कवि और काव्यशास्त्र

(काव्य-रचना की प्रयोगात्मक एवं सैद्धान्तिक व्याख्या)

डा. सुरेशचन्द्र पाण्डेय

कवि और काव्य-शास्त्र

कवि और काव्य-शास्त्र

[काव्य-रचना की प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक व्याख्या]

(Not fit for PHD.

लेखक

डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डेय

(रीडर, संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी)

प्रकाशक

राका प्रकाशन

इलाहाबाद-२११००२

संस्करण : प्रथम, १९८१ ई०

प्रकाशक : राका प्रकाशन
४०-ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद - २११००२

मूल्य : चालीस रुपये मात्र

मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

किञ्चिद् निवेदनम्

संस्कृत-साहित्य का अध्ययन एवं अध्यापन करते समय कुछ विशिष्ट कवियों एवम् उनकी मान्यताओं के सम्बन्ध में ऐसी जिज्ञासाएँ बुद्धि में जागरित होती रही हैं जिनका उत्तर मैंने तत्काल प्राप्त नहीं किया, उनमें पर्याप्त समय लगा है। ध्वनिसिद्धान्त पर अपना शोधकार्य समाप्त करने के अनन्तर मैं उन्हीं जिज्ञासाओं एवं प्रश्नों के समाधानार्थ अधिक तन्मयता से जुटा रहा। समय-समय पर अध्यापन एवं शोधकार्यों के निर्देशन से अवसर निकाल कर इस प्रसंग में आये विचारों को टिप्पणी के रूप में निबद्ध करता रहा। विगत दो वर्षों से मेरे विचारों की ऐसी टिप्पणियों ने मेरी पत्रावलि को भर दिया। तब अपने मित्रों के सुझाव से इन टिप्पणियों को मैंने पुस्तकाकार रूप देने का निश्चय किया।

संस्कृत-कवियों की काव्य-रचना तथा लक्षणकारों का शास्त्रीय विवेचन मध्यकाल के पूर्व (६०० ई०) तो एक दूसरे के पूरक रहे हैं, किन्तु उसके बाद काव्य-रचना की दिशा दूसरी है और काव्यलक्षणकारों के तत्त्वचिन्तन की सरणि दूसरी रही है। मेरी टिप्पणियों की लम्बी सूची थी, मैंने प्रमुख रूप से टिप्पणियों के प्रथम भाग को 'कवि और काव्य-शास्त्र' के रूप में प्रकाशित कराने का निश्चय किया। इस भाग में कालिदास, भारवि, गाथासप्तशती के कवि, सूक्तिमुक्तकों के कवि और मध्यकाल के प्रतिनिधि कवि श्रीहर्ष को एक विशेष दृष्टि से लिया गया है, जिससे मध्यकाल के पूर्व की काव्य-रचना-परम्परा तथा मध्यकाल की काव्य-रचना-परम्परा का भेद प्रकट हो सके।

इन कवियों के काव्य-रचना-सम्बन्धी विवेचन के साथ तीन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को भी इस पुस्तक में लिया गया है। ये सिद्धान्त हैं—गुण, रस और अलङ्कार। मैंने इन सिद्धान्तों को पिष्टपेषण करने के उद्देश्य से नहीं ग्रहण किया है प्रत्युत इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जो बातें अब तक नहीं कही गयी हैं, शेष बची रहीं और यह शेष मेरी आँखों के सामने प्रश्न के रूप में खड़ा हुआ, तब मैंने उसे अपने विश्लेषण के साथ संस्कृत काव्य-रचना एवं संस्कृत काव्यशास्त्र के सुधी पाठकों के सामने प्रस्तुत कर दिया है।

मेरे आलस्य के कारण इस पुस्तक का प्रकाशन विगत दो वर्षों से रुका रहा, क्योंकि सारी टिप्पणियों को समय निकाल कर सुसम्बद्ध करना था। इस प्रसंग में मेरे भूतपूर्व प्रतिभाशाली शोध-छात्र डॉ. जयशङ्कर त्रिपाठी (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, ईश्वरशरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद) ने मुझे पर्याप्त सहायता प्रदान की है। उनके सत्परामर्श एवं विद्वत्तापूर्ण मौलिक सुझावों से मैं लाभान्वित होता रहा हूँ। एतदर्थ मैं उनका आभार मानता हूँ। मेरे वर्तमान शोध-छात्र प्रिय शिष्य श्री सुरेन्द्रकुमार पाण्डेय ने लगन के साथ पुस्तक की स्वच्छ पाण्डुलिपि तैयार करने का संकल्प न लिया होता तो यह प्रकाशन-कार्य पूरा न हो पाता, उन्होंने जो श्रम किया तदर्थ उन्हें साधुवाद एवं शुभाशीर्वाद देता हूँ।

पुस्तक सुधी पाठकों के हाथ में है। यदि उन्हें इसमें कुछ भी तत्त्व की बात मिलती है तो मैं अपने श्रम को सार्थक मानता हूँ।

—सुरेशचन्द्र पाण्डेय

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
श्रावणी पूर्णिमा, २०३८ वि०

सूची

●

१. कालिदास की उपमाएँ

काव्यालोचन का उपमा-सिद्धान्त प्राचीनतम सिद्धान्तों में है। यास्क और पाणिनि के पूर्व भी 'उपमा' शब्द तथा औपम्य सिद्धान्त स्वीकृत हो चुका था—

'अथात उपमा यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः'—निरुक्त। "उपमानानि सामान्य-वचनैः' उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे।"—पाणिनि।

आचार्य राजशेखर के मत में औपम्य काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठाता औपकायन थे। औपकायन नाम कल्पित भी हो सकता है। पर औपम्य काव्य—सिद्धान्त की कसौटी कविता के मूल्याङ्कन में स्वीकृत थी यह सत्य है। किसी समय कालि-दास को इसीलिये काव्यालोचकों ने महान् कवि स्वीकार किया था क्योंकि वे उपमा के प्रयोगों में अत्यन्त खरे कवि सिद्ध हुए थे—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ—गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

पर कालिदास उपमा के प्रयोगों में ही सिद्ध नहीं थे अपितु काव्य-रचना के ही सर्वोत्कृष्ट परिकल्पक थे, इसीलिये उनकी कविता क्या उपमा, क्या गुण, क्या ध्वनि और क्या वक्रोक्ति—प्रत्येक काव्य-सिद्धान्त की कसौटी पर अत्यन्त खरी उतरती है। वाल्मीकि और व्यास से अन्य कोई कवि कालिदास की काव्य-रचना की तुलना नहीं कर सकता।

औपम्य काव्य-सिद्धान्त से प्रायः उपमा अलंकार का आशय ग्रहण किया जाता है पर इस काव्य-सिद्धान्त में सादृश्यमूलक कल्पना से उद्भावित सभी अलंकारों का परिगणन किया जाना चाहिये। औपम्यमूलक अलंकारों में ये प्रमुख नाम हैं—उपमा, रूपक, निदर्शना, प्रतीप, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, व्यतिरेक, दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त। परन्तु कालिदास ने विशेषरूप से उपमा के ही अत्यन्त चमत्कारिक एवं हृदयावर्जक प्रयोग किये हैं, जो केवल उपमा अलंकार न रहकर काव्यात्मा की अभिव्यक्ति बन गए हैं। कवि के अन्तर्मन में निहित गूढ़ सौन्दर्यभरित अर्थ की अभिव्यक्ति कालि-दास के उपमा प्रयोग करते हैं जो अन्यत्र कवियों की काव्यरचना में दुर्लभ हैं।

साधर्म्यप्रयोज्य सादृश्य ही उपमा अलंकार है—यह सामान्य बात है, किन्तु आलंकारिकों ने उपमा के लक्षण और व्याख्यान में इस सादृश्य के रहस्य को

भलीभांति समझाया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उपमा तथा सादृश्यमूलक अन्य अलंकारों में क्या अन्तर है। आदि आलंकारिक दण्डी और भामह ने उपमा के लक्षण इस प्रकार दिये हैं—

यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते॥

(काव्यादर्श २।१४)

अर्थात् जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो वस्तुओं में जिस किसी प्रकार सादृश्य का चमत्कार उद्भूत और अनुभूत हो, वह उपमा अलंकार है, जिसका विस्तार बहुत लम्बा है। भामह ने पहले सादृश्यमूलक अलंकार रूपक का लक्षण किया—

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः॥

(काव्यालंकार २।२१)

गुणों की समानता देखकर उपमान से उपमेय का जो तादात्म्य होता है, उसे रूपक अलंकार कहते हैं। फिर रूपक के माध्यम से उपमा को भी परिभाषित किया। उन्होंने कहा—

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत् साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥

(काव्यालंकार २।३०)

देश, काल, क्रिया आदि द्वारा भिन्न उपमान के साथ उपमेय की जो गुणलेश (स्वल्प गुण) की समानता की जाती है, वह उपमा अलंकार है।

पर इस सादृश्य का प्रपञ्च वास्तव में बहुत विस्तृत है। परवर्ती आलंकारिकों ने जो उपमा की परिभाषा की है वह वस्तुतः इन लक्षणों से भिन्न नहीं है किन्तु एक बात अवश्य है कि लक्षण को अतिव्याप्ति से बचाने के लिए उपमा की व्याप्ति में कटौती कर दी गई है। आचार्य विश्वनाथ का उपमा-लक्षण इसका निदर्शन है। उपमा के चार अङ्गों का निरूपण किया गया है—उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और साधर्म्यवाचक इवादि शब्द। उपमेय को प्रस्तुत, प्रकृत वर्ण्यविषय तथा उपमान को अप्रस्तुत, अप्रकृत एवं विषयी कहकर भी उपमा तथा अन्य अलंकारों में प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु आलंकारिकों ने विशेषतः पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने साधारण-धर्म को तो साधारण दृष्टि से ही ग्रहण किया, सादृश्यबोधक शब्द पर विशेष व्याख्यान अवश्य करते रहे।

इन आचार्यों की परिभाषाओं में उपमा की सीमा और शक्ति का उचित बोध नहीं हो पाता। काव्य-रचना की भूमि पर उपमा की कल्पना प्रकृत सौन्दर्य को अनावृत्त कर मन के हाट में सजा देना—उपमा के इस शक्तिबोध की ओर आचार्य कुन्तक ने स्पष्टरूप से इंगित किया हैं। उन्होंने उपमा के लक्षण में कहा हैं—

विवक्षित - परिस्पन्द - मनोहारित्वसिद्धये।
वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा॥
तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात्।
इवादिरपि विच्छित्त्या यत्र वक्ति क्रियापदम्॥

(वक्रोक्तिजीवित ३।३०-३१)

अर्थात् वर्णनीय वस्तु के सौन्दर्य को भलीभाँति उद्घाटित करने के लिये, वस्तु की समानता उसके उत्कर्ष को ख्यापित करनेवाले किसी अन्य से किया जाना उपमालंकार है। इव आदि समानता के बोधक शब्द, अथवा क्रियापद चमत्कार के साथ साधारणधर्म के कथन में या काव्य के अर्थ में साधारणधर्म का अन्वय करके उस उपमा को प्रकट करते हैं।

कुन्तक की परिभाषा में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) कवि अपनी रचना में वर्णनीय वस्तु के मनोहारी सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने के लिए उपमा का प्रयोग करता है।

(२) उपमा में सौन्दर्य का यह दर्शन साधारणधर्म की उक्ति में होता है, यह उक्ति चाहे जिस प्रकार से हो। यदि साधारणधर्म की उक्ति न की गई हो तो वाक्य के अर्थ में उसका अन्वय करना ही पड़ेगा। उपमा के प्रयोग में साधारण-धर्म का बोध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

यहाँ साधारण धर्म के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से सोचने की जरूरत है। साधारण धर्म की स्थिति प्रस्तुत उपमेय और अप्रस्तुत उपमान दोनों में होती है। प्रायः गुण या क्रिया के रूप में इस स्थिति की अभिव्यक्ति होती है। भामह ने गुणलेश से होनेवाली समानता का निर्देश किया है। किन्तु उपमा का अर्थ केवल समानता नहीं है, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। प्रस्तुत के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति किसी अप्रस्तुत के सौन्दर्य के निदर्शन द्वारा सम्पन्न होती है और ऐसी स्थिति में प्रस्तुत में कितनी गुणवत्ता और मनोहारिता आ जाती है, नहीं कहा जा सकता। यदि प्रस्तुत का सौन्दर्य द्विगुणित नहीं हुआ और उसमें मनोहारित्व नहीं आया तो वह उपमा का सफल प्रयोग नहीं है वाचोयुक्ति ही है। आचार्य कुन्तक ने अपनी परिभाषा में इसे स्पष्ट कर दिया है

कि वस्तु के उत्कर्ष का ख्यापन करनेवाले किसी वस्तुजात से वस्तु की समानता उपमा होगी। साधारणधर्म की दृष्टि से उपमान तथा उपमेय दोनों के सौन्दर्य की सरणि और प्रकृति एक होती है पर विशेष बात यह है कि उपमेय के सौन्दर्य की अतिशयता को उपमान का सौन्दर्य मुखरित करने लगता है। यह उपमान देश, काल या क्रिया आदि से उपमेय से अपनी भिन्नता रखता है और यह भिन्नता रखता हुआ भी साधारण धर्म की एकता रखता है, यही चमत्कार की बात है। उपमान के धर्म में यदि उपमेय के सौन्दर्य को द्विगुणित करने की क्षमता नहीं है तो वह उपमान की अयोग्यता सिद्ध करता है, और ऐसे उपमान का प्रयोग करने वाला कवि अपनी प्रतिभा का दिवालापन प्रकट करता है। कुन्तक के अनुसार सदैव सौन्दर्योत्कर्ष से युक्त उपमान से साम्य की स्थिति ही उपमा है। जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य इन चार शब्दप्रकारों में उपमेय तथा उपमान अपने अतिशय चारुत्व में तीन तीन की उपस्थिति में द्योतित होते हैं। कहीं एक साथ जाति, क्रिया, गुण के साम्य का चमत्कार प्रतीत होता है और कहीं क्रिया, गुण तथा द्रव्य के साम्य का। यह भी आवश्यक है वस्तु की न्यूनता या अधिकता भी न होने पाए, नहीं तो समानता विरस हो जाती है। बाह्य देश-काल भिन्न होने पर भी आन्तरिक देश-काल दोनों वस्तुओं का एक होता है। यह ऐसे उपमा अलंकार की बात है जिसकी रचना करते समय कवि समानता की अभिव्यक्ति में इतना अभिनिविष्ट हो जाता है कि सादृश्य अर्थ का सौन्दर्य ही उसकी काव्यरचना की आत्मा बन कर प्रतिष्ठित हो जाता है, तभी मनोहारित्व की सिद्धि होती है।

इस प्रसंग में कालिदास की कुछ उपमाओं के उदाहरण लीजिए। इन उदाहरणों की विशेषता है कि कवि के उपमान सौन्दर्य की सूक्ष्म विद्युत् रेखा अपने में अन्तर्निहित किये हैं और उपमेय-वस्तु में इस सौन्दर्य को कवि समानता के अर्थबोध के साथ चमत्कृत कर देता है, जहाँ गूढ़ सौन्दर्य साम्य के साथ उपमेय में सहसा फूट पड़ता है और मन को मोह लेता है, इसका उदाहरण है—

राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ उनके यज्ञ की रक्षा करने जा रहे हैं। कथा-प्रसंग में यज्ञ के साथ ही उनको दूसरे स्वयंवर-यज्ञ में पहुँचना होगा। विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा में उन्होंने राक्षसों को मारा है और स्वयंवर यज्ञ में राम सीता का वरण करेंगे। अपने सौन्दर्य से दोनों राजकुमार जनकपुर के नरनारियों का मन मोह लेंगे। कवि ने इस प्रसंग के सौन्दर्य की उपमालंकार द्वारा जितनी उल्बण अभिव्यक्ति की है न वह ध्वनि से संभव है और न वक्रोक्ति से, कवि कहता है—

मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः।
रेजतुर्गतिवशात् प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव॥

(रघुवंश ११।७)

ऋषि विश्वामित्र के पीछे धनुष लिये राम और लक्ष्मण ऐसे ही शोभित होते हैं जैसे सूर्य (मीन, मेष संक्रांति) के साथ चैत्र और वैशाख महीने सुहावने होते हैं। कवि ने चैत्र को मधु और वैशाख को माधव कहा है। चैत्र पतझड़ (शिशिर-ऋतु) के अनन्तर जुड़ा हुआ महीना है। चैत्र में आम के बौर में टिकोरे आ जाते हैं, पलाश में लाल फूल फूलते हैं, महुए फूलों के रस से भर जाते हैं, इसके अतिरिक्त भी उत्तर भारत में विन्ध्य-पर्वत और उसका वन-प्रान्त अपने सभी वृक्षों में फूलों से भर उठता है। सारी रात इन फूलों की महक से महमहाती रहती है। चैत्र की सुकुमारता और मनोमोहकता का सौन्दर्य कवि ने राम में उड़ेल दिया है। चैत्र के बाद मेष की संक्रान्ति में सूर्य उच्च का हो जाता है, उसमें ताप बढ़ जाता है पर धरती पर वसन्त ऋतु के फूलों और उनके रसों की बहार उस ताप को अपने स्पर्श से मन्थर बना देती है। रस से मन्थर बने ताप का यह सादृश्य लक्ष्मण में स्थापित किया गया है। विश्वामित्र सूर्य हैं, वसन्त ऋतु के सूर्य हैं जिसका ताप सुहावना है और किञ्चित् प्रखर भी। विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी ऋषिमार्ग के पथिक हैं। कवि ने अपनी इस उपमा द्वारा विश्वामित्र, राम तथा लक्ष्मण के स्वरूप, शक्ति, गुण, सौन्दर्य एवं क्रिया की जो अभिव्यक्ति की है और यह अभिव्यक्ति जितने स्वल्प अक्षरों में संभव हो सकी है उसकी मिसाल अन्यत्र दुर्लभ है। जो भारत देश और उसके ऋतुचक्र को जानता है वह कालिदास के आनन्दस्वरूप इस काव्यात्मा को प्रत्यक्ष कर सकता है।

दूसरी उपमा लीजिए, जिसमें कवि ने सौन्दर्य-बोध के साथ ही नाटक के पताकास्थानक की तरह भावी घटना की व्यञ्जना भी उसी उपमा में समाविष्ट कर दी है। उपमा वशिष्ठ की नन्दिनी गौ की दी जा रही है। राजा दिलीप पुत्र की इच्छा से गुरु के आश्रम में गए हैं। गुरु वशिष्ठ ने ध्यान लगाकर जाना कि राजा दिलीप को कामधेनु का शाप है, इसी कारण इन्हें पुत्र की प्राप्ति नहीं हो पा रही है। कामधेनु की पुत्री नन्दिनी गाय की सेवा का आदेश राजा दिलीप को दिया गया। नन्दिनी ऋषि वशिष्ठ के आश्रम में ही रहती है। जैसे ही वशिष्ठ यह बात कह रहे थे, नन्दिनी जंगल से चर कर लौट रही थी। वशिष्ठ के साथ राजा ने नन्दिनी का दर्शन किया। कवि कहता है—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम्।।

(रघुवंश १।८३)

नन्दिनी नवाङ्कुरित पत्ते के समान चिक्कण गुलाबी रंग की थी, उसके ललाट देश में सफेद रोमों का टेढ़ा चिह्न उदित था जैसे सन्ध्या द्वितीया के चन्द्रमा को धारण किये हो। यहाँ कवि ने नन्दिनी के रूप का चित्र खींचा है। नन्दिनी का रंग पाटल वर्ण का था, यह तो सामान्य बात हुई। बहुत सी गाएँ ऐसी होती हैं। पर विशेषता यह थी कि नन्दिनी के मस्तक में सफेद रोमों का टेढ़ा चिह्न था जिससे वह शुक्लपक्ष की द्वितीया की सन्ध्यावेला हो गई, जिसमें गुलाबी लाल आकाश में द्वितीया के चन्द्रमा की टेढ़ी रेखा दिखाई देती है। कवि की यह भाव-कल्पना केवल उपमा तक ही नहीं सीमित है, वह उपमा के माध्यम से भावी अर्थ की अभिव्यक्ति कर रही है, अर्थात् नन्दिनी के ललाट का जो श्वेत-रोमाङ्क द्वितीया का टेढ़ा चन्द्रमा बना है वह राजा दिलीप की पुत्र-कामना की पवित्र उज्ज्वल रेखा है, जिसे प्रतिदिन बढ़ते ही जाना है, या यह कहिये कि नन्दिनी अपने मस्तक में टेढ़ा श्वेत रोमाङ्क पुत्र के प्रतीक के रूप में ही धारण किये हुए है और राजा नन्दिनी के दर्शन के साथ अपनी पुत्रेच्छा की प्रत्यक्ष सम्पूर्ति देखता है। उसका पुत्र द्वितीया के चन्द्रमा के समान प्रतिदिन बढ़ता जाएगा और अपनी कीर्तिकौमुदी से जगत् को आलोकित कर देगा।

ये उपमाएँ ऐसी हैं जिनके उपमान से हमारा मानस परम्परा से चिरपरिचित है पर कवि जब इसको अपनी काव्य-रचना का विषय बताता है तब उपमेय और उपमान दोनों अपने सौन्दर्य को परस्पर के सौन्दर्य से द्विगुणित कर देते हैं। जैसे शुक्लपक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा एक टेढ़ी उज्ज्वल रेखामात्र होता है वैसे कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी का चन्द्रमा भी एक शुभ्र टेढ़ी रेखा होता है, बस अन्तर यह है कि शुक्लपक्ष का चन्द्रमा रात्रि आरम्भ होने के पूर्व पश्चिम के गुलाबी आकाश की सन्ध्या में उदित होता है और कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा रात्रि के अन्त में क्षितिज में उदित होता दिखाई देता है। कालिदास केवल उपमान की खोज ही नहीं करते उसके लिये उपयुक्त उपमेय भी ढूँढ़ते हैं, ऐसा उपमेय जिससे उपमान की सार्थकता प्रफुल्लित हो जाती है। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में उदित कलामात्रशेष चन्द्रमा को कवि ने एक स्थल पर उपमान बनाकर भाव तथा भावी कथा दोनों की सहज अभिव्यक्ति की है—

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।

नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्द्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥

(मेघदूत २।२८)

यक्ष बादल से विरहिणी यक्षिणी की शरीरदशा का वर्णन कर रहा है, वर्णन क्या कर रहा है उसकी विरहक्षीण काया का रेखाङ्कन कर रहा है। मेरी प्रिया विरह के शोक में अत्यन्त दुबली हो गई होगी, कोमल पत्तों की शय्या पर वह एक करवट लेटी होगी, वह ऐसी ही दीखेगी जैसे कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को पूर्व दिशा में रात्रि की गोद में एक कलामात्र अवशिष्ट क्षीणचन्द्रमा उदित हो। जिसके साथ मैं सुखद इच्छाओं के बीच रात्रि को एक क्षण के समान बिता देता था, विरह से लम्बी हुई उस रात्रि को वह गरम आँसू ढुलकाती हुई बिता रही होगी। यहाँ पर कवि ने यक्षप्रिया की उपमा चतुर्दशी के क्षीण चन्द्रमा से देकर उसके गहन जीवनसंकट तथा वर्षाकाल बीतते ही मिलन की सुखपूर्ण आशा का संकेत किया है। चन्द्रमा भी अमावस्या तथा प्रतिपदा को अस्त ही रहेगा फिर शुक्लपक्ष की द्वितीया से वह बढ़ने लगेगा। विरहकाल में वर्षाऋतु के चार महीने विरहिणी यक्षप्रिया के लिये अमावस्या और प्रतिपदा के समान अन्धकार-मय हैं। यह बात तो हुई भावी कथाचक्र तथा कथा की संगति की। अब विरह से क्षीण यक्षप्रिया के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की बेजोड़ कल्पना देखिए—चतुर्दशी की शेषरात्रि में नीचे क्षितिज पर उषा की क्षीण आभा फैल रही है, उसके ऊपर रात्रि का अन्धकार आकाश में छाया है उस अन्धकार के बीच चन्द्रमा की एक कला अपने शुभ्र प्रकाश में चमक रही है, जिसने प्रातःकाल उठ कर उस चन्द्रमा को देखा होगा वह उसकी मनोहारिता को जानता होगा। पत्तों पर लेटी यक्षप्रिया जिसके मानस के चारों ओर विरहान्धकार छाया है अपने दुबले शरीर से प्रस्फुटित मोहक सौन्दर्य का बोध कवि की वाणी में रात्रि की गोद में उदित एक कला के चन्द्रमा की शुभ्र चमक से करा रही है। पर यह भी सत्य है कि इस कलामात्र अवशिष्ट चन्द्रमा की चमक का सौन्दर्य-बोध भी इस उपमेय के सन्दर्भ में अधिक उजागर हो रहा है।

कवि की ये औपम्य कल्पनाएँ रचना में सीधे काव्यात्मा की अभिव्यक्ति है। उत्प्रेक्षा भी औपम्यमूलक अलंकार है। जहाँ समानता केवल संभावना की कोटि तक रह जाती है। कालिदास की एक उत्प्रेक्षा देखिए जिसमें कवि ने अन्तर्मन के भावविलास की प्रक्रिया को रमणीयता के साथ अभिव्यक्त किया है। जब बादल यक्ष का संदेश लेकर अलकापुरी में उसके भवन पर यक्षप्रिया के

निकट पहुँचेगा तब इस शुभ शकुन की सूचना देती हुई उसकी बायीं आँख ऊपरी हिस्से में फड़क उठेगी—

रुद्धापाङ्ग — प्रसरमलकैरञ्जनस्नेह — शून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीन - क्षोभाच्चलकुवलय - श्रीतुलामेष्यतीति॥

(उत्तर ३४)

यक्ष कहता है कि मित्र मेघ! जब तुम मेरे भवन पर पहुँच जाओगे तब मेरी मृगनयनी प्रिया की आँख जिसकी चितवन की कोर को मुख पर लटकते केशों ने ढक लिया होगा, जो बिना आंजन के रूखी-सूनी होंगी, विरह के दिनों में मदिरा का त्याग कर देने से जिसकी भौंहों में हावभाव का विलास न होगा, अनुमान करता हूं ऊपरी हिस्से में फड़क कर शुभ शकुन की सूचना देगी; उस समय उसकी शोभा उस नीलकमल के समान होगी जो मछली से आलोड़ित जल में चञ्चल हो उठा हो। कवि कहता है कि आंख फड़क उठेगी, केवल उतनी, जितनी चञ्चलता एक बार जल में मछली के आलोड़न से उसमें खिले नील कमल में आ सकती है। उपमा की संगति के साथ भावोन्मीलन का सूक्ष्मदर्शन देखिए—मछली के जलालोडन से जिस प्रकार नीलकमल चंचल हो उठेगा उसी तरह अन्तर्मन में अनजाने आनन्दोद्गम से आँख फड़क उठेगी।

विश्वामित्र के साथ जाते रामलक्ष्मण की उपमा सूर्य की संक्रान्ति के साथ अवतरित होनेवाले चैत्र-वैशाख मास से देकर कालिदास ने अत्यन्त ही अन्तर्गूढ़ सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की हैं। उसी सरणि में प्रकट सौन्दर्य की अभिव्यक्ति या अभिधा में भावचित्र का रेखांकन इस उपमा में देखिए—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

(रघुवंश ६।६७)

यह इन्दुमती के स्वयंवर का चित्र है। इन्दुमती स्वयंवर-सभा में राजमार्ग की संचारिणी दीपशिखा के समान जिस जिस-राजा को छोड़कर आगे बढ़ जाती है उस-उस राजा का मुख वैसे ही निष्प्रभ और विच्छाय हो जाता है जैसे दीपशिखा के आगे बढ़ने पर राजमार्ग का भवन अन्धकार में हो जाता है। इन्दुमती के राजा का परिचय प्राप्त कर मौन भाव से आगे चल देने पर राजा का हृदय निराशा में डूब जाता है और मुख पर उस निराशा का फीकापन आ जाता है। इस उपमा-

प्रयोग का सौन्दर्य यह है कि इन्दुमती मन को अभिभूत करनेवाली प्रकाशज्योति है। यह प्रकाशज्योति कामसंवेदन से प्रदीप्त है, उसके दर्शन से मन प्रफुल्ल और अदर्शन से उदास हो रहे हैं। यह केवल उपमा नहीं है, मनुष्य के युवा मन की प्रकृति का विश्लेषण है। नारी का सौन्दर्य मनुष्य की सुकुमार दुर्बलता है। इस उपमा का दूसरा पक्ष भी है कि जब इन्दुमती किसी राजा के सम्मुख पहुँचती है तो उसका हृदय आशा से वैसे ही प्रफुल्लित हो जाता है जैसे दीपशिखा के प्रकाश में राजमार्ग का भवन। पर कवि ने उपमा के इस पक्ष को वर्णन का विषय नहीं बनाया, क्योंकि विवर्णभाव में जो संवेदन है वह प्रफुल्लभाव में नहीं है। नारी के सौन्दर्य के प्रति मनुष्य की सुकुमार दुर्बलता की स्फुट अभिव्यक्ति विवर्ण-भाव में होती है।

इसी प्रसंग में एक दूसरी उपमा है जिसमें कवि ने इन्दुमती के शील एवं लज्जा की निर्मल अभिव्यक्ति की है। इन्दुमती मगधेश्वर को देखकर आगे बढ़ी और सुनन्दा के साथ अंगनाथ के पास पहुंच गई, इस प्रसंग में कवि कहता है—

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्ग-लेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्॥

(रघुवंश ६।२६)

सुनन्दा राजकुमारी इन्दुमती को दूसरे राजा के पास ऐसे ही ले गई जैसे हवा से उठी हुई तरंग की रेखा मानस की राजहंसी को (बिना प्रयास) एक कमल से दूसरे कमल के पास पहुँचा देती है। इस उपमा से काव्य का गूढ़ अर्थ प्रस्फुटित हो रहा है। राजकुमारी इन्दुमती शील तथा लज्जा में इतनी डूबी हुई है कि उसे इस बात का पता ही नहीं चलता कि वह किस राजा के सामने खड़ी है। वह केवल राजाओं का परिचय सुनती है और अस्वीकृति का शिर हिला देती है तथा सुनन्दा के साथ अनजाने भोलेपन से आगे चली जाती है। इस आगे चलने का आभास उसे नहीं हो रहा है क्योंकि वह शील तथा लज्जा से आप्लावित है। नारी-सुलभ इन लज्जा-शीलादि गुणों की अभिव्यक्ति कराना ही उपमा का उद्देश्य है।

काव्यात्मा की अभिव्यक्ति करानेवाली ऐसी ही बेजोड़ उपमा कुमारसंभव के रतिविलाप में है। रति वसन्त को संबोधित कर विलाप करती है—

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥

(कु० सं० ४।३०)

हे वसन्त ! तुम्हारा मित्र हवा के झोंके से बुझे दीपक के समान चला गया, अब नहीं लौटेगा। अत्यन्त दुःख से दुःखित मैं उस बुझे हुए दीपक की बची हुई धुंधुंआती बाती के समान हूँ। पति की मृत्यु के बाद पत्नी के जीवन का सारा सुख प्रकाश-हीन हो जाता है। उसकी प्रसन्नता का चिह्न मिट जाता है। अवसाद में ही जीवन का अन्त हो जाता है। कवि की बुझे दीपक की उपमा उक्त तथ्य का कितनी चमत्कारिता से बोध करा रही है।

पति के अभाव में पत्नी के जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती, भारतीय संस्कृति के इस विचार-प्रवाह तथा संस्कार को इसी प्रसंग में कवि दूसरे औपम्य-मूलक अलंकार से व्यक्त कर रहा है—

विधिनाकृतमर्द्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता।
अनपायिनि संश्रयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी॥

(कु० स० ४।३१)

हे वसन्त ! सोचो तो, क्या ब्रह्मा ने काम का वध कर काम की अर्धाङ्गिनी मुझको जीवित छोड़ा है और काम का आधा ही वध किया है। लता जिस वृक्ष पर चढ़ी हो, हाथी की टक्कर से वह वृक्ष टूट जाए तो आश्रयभूत वृक्ष के टूट जाने पर लता का पतन भी निश्चित है, उसी प्रकार अब मेरी मृत्यु भी सुनिश्चित है।

दीपक भारतीय संस्कृति में प्रकाश और अमृतत्व का प्रतीक है। एक दीपक से दूसरा दीपक प्रज्वलित हो जाता है। इस प्रकार दीपक वंशपरम्परा का भी प्रतीक है। रघुवंश के पांचवें सर्ग में रघु से अज की उत्पत्ति वैसी ही हुई जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलता है—

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात् स्वाद् बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥

(रघुवंश ५।३७)

पिता और पुत्र में कारण-कार्यभाव के रहते भी दोनों में पूरी समानता को उजागर करने के लिये उक्त दीपक के उपमान के अतिरिक्त दूसरा उपमान खोजे नहीं मिल सकता और यह उपमान सर्वजनसंवेद्य भी है। न्याय शास्त्र में तो महत् परिमाण से आरब्ध वस्तु महत्तर ही होती है किन्तु कालिदास का दीपक उपमान पिता और पुत्र में समान गुणों को ख्यापित करने के लिये कितना सटीक है इस सम्बन्ध में सहृदय ही प्रमाण हैं।

रघुवंश के १९वें सर्ग में जब अग्निवर्ण क्षयग्रस्त हो जाता है तब कवि ने रघुकुल की तुलना उस दीपक से की है जिसकी लौ अब छोटी हो गई है और दीपक

बुझने वाला ही है। कवि ने यहाँ पर तीन उपमान दिये हैं जिनमें अन्तिम दीप है—

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा
पङ्कशेषमिव धर्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे
वामनार्चिरिव दीपभाजनम्॥

(रघु० १९।५१)

अर्थात् राजा के क्षयग्रस्त हो जाने पर वह कुल कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को उदित एक कलामात्र शेष चन्द्रमा वाले आकाश के समान, गर्मी में कीचड़ मात्र अवशिष्ट ताल के समान और उस दीपपात्र के समान हो गया जिसकी लौ छोटी हो गई है और तनिक प्रज्वलित है। वैसे यह मालोपमा का उदाहरण है, पर कवि ने तीन उपमान तीन दृष्टियों से दिये हैं। एक कलाशेष चन्द्रमा का उपमान देकर कवि का हृदय यह देख रहा था कि रघुकुल का प्रकाश अब गया, फिर सूखे ताल से उपमा दी है कि इसका जीवन गया। जल जीवन का प्रतीक है। पर अत्यन्त व्यथित होकर वह अन्तिम उपमा बुझती लौ वाले दीपक से देता है जो पहले के दो उपमानों से अधिक भावगर्भित है। अर्थात् यह दीपक बुझ गया तो अब दूसरा दीप कैसे प्रज्वलित होगा। सामान्य रूप से मनुष्य सोचता है कि यश नहीं रहा तो जीवन तो है यश फिर मिलेगा। यदि जीवन नहीं है तो जीवन की सार्थकता को व्यक्त करने-वाला कुल तो शेष है, यदि कुल की परम्परा चलती रहेगी तो उसी में उसका अपना जीवन भी और यश भी शेष रहेगा। पर बुझते दीप का उपमान देकर कवि ने व्यञ्जना की है कि अब तो वंश परम्परा का ही विच्छेद हो गया।

वस्तुतः उक्त प्रकार साङ्गरूपक की कल्पना है। पर कालिदास ने वर्णनीय वस्तु को सर्वतः दीप्त करने के लिये मालोपमा का सहारा लिया। एक उपमान से वस्तु को पूर्णरूप से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, इसलिये कवि ने प्रायः ऐसे गूढ़ वर्ण्य विषयों को तीन-तीन उपमानों से भलीभांति व्यक्त किया है। कवि की उपमा की कल्पना अलंकार की योजना नहीं है। कवि ने तो काव्यार्थ को मुखरित करने के लिये, अभिव्यक्त करने के लिए तथा उसकी सुकुमारता को द्विगुणित करने के लिये वाणी को उपमा में बदल दिया है। ऐसे दूसरे भी उदाहरण हैं—

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥ (रघु० २।७५)

रानी सुदक्षिणा ने राजा के कुल की विभूति के लिये लोकपालों के तेज से संयुक्त तेजस्वी गर्भधारण किया, जैसे अत्रि ऋषि के नेत्र से निकली ज्योति चन्द्रमा को आकाश ने और शिव का तेज जिसे अग्नि नहीं संभाल सके, गंगा ने धारण किया था। कवि ने दो उपमान दो दृष्टियों से दिये हैं—गर्भ की सन्तान चन्द्रमा के समान दिगन्त को अपनी कीर्ति से भर देगी तथा शिव के पुत्र स्कन्द के समान उसकी शक्ति असीम, अमोघ होगी। रघुवंश के तीसरे सर्ग में कवि इसी अर्थ को और भी पल्लवित करता है।

निधानगर्भामिव सागराम्बरां
शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं
नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत॥

(रघु० ३।९)

राजा दिलीप ने उस समय गर्भवती रानी सुदक्षिणा को रत्नों से भरी, सागरों से घिरी पृथ्वी के समान, जिसके भीतर अग्नि जाग्रत है उस शमीवृक्ष के समान तथा अन्तःसलिला सरस्वती के समान जाना। कवि ने तीन उपमानों से भावी सन्तान को लक्ष्मीपति, प्रतापाग्नि-सम्पन्न तथा विद्वान् निरूपित किया है।

विवाह के समय पार्वती आभूषणों से सजायी गई है। कवि आभूषणों से सुसज्जित पार्वती का वर्णन कर रहा है। उपमानों की विविधता से वह वस्तु का पूर्ण चित्र उपस्थित करता है—

सा संभवद्भिः कुसुमैर्लतेव
ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद् विहङ्गैरिव लीयमानै
रामुच्यमानाभरणा चकासे॥

(कुमार० ७।२१)

अर्थात् फूले हुए कुसुमों से लता के समान, चमकते तारों से रात्रि के समान तथा तट में कलरव कर रहे पक्षियों से युक्त नदी के समान गहनों से सजी पार्वती की सुन्दरता और अधिक निखर पड़ी। यहाँ तीन उपमानों में आभूषणों के सौन्दर्य के प्रति कवि की भिन्न-भिन्न दृष्टि है—कुछ आभूषण ऐसे रंगीन रत्नों के हैं जो फूलों के समान चमक रहे हैं और वे पार्वती के गौर अंगों में सजे हैं। मौक्तिक या ऐसे ही शुभ्र चमकनेवाले नक्षत्रों-जैसे आभूषण उनके काले केशों में सजाए गए हैं। कटिप्रदेश तथा चरणों में ऐसे आभूषण हैं जिनसे मधुर ध्वनि हो रही है जो दिखाई

कम पड़ रहे हैं, ध्वनि से अपना परिचय दे रहे हैं, नदी में विलीन कलकूजन करने वाले पक्षियों के समान हैं।

कवि ने कहीं कहीं उपमानों की उद्भावना को देशकाल की संगति से अधिक चमत्कृत कर दिया है। इस विशेषता का अधिक उत्कर्ष आदिकवि वाल्मीकि में पाया जाता है, पर कालिदास ने भी उसे अपनाया है। मेघदूत में ऐसे कई उपमान हैं। इन्द्रधनुष से उल्लसित मेघ की शोभा को चित्रित करने के लिये कवि ने चरवाहा विष्णु (कृष्ण) को उपमान बनाया है, जो शिर पर रंगविरंगा मोरपंख का मुकुट धारण करते हैं। बादल तथा चरवाहा दोनों की संगति वर्षाकाल में है। यह काल की बात हुई पर कवि ने यहाँ देश को भी अलग होने नहीं दिया है। मालदेश के पहले मेघ जब विन्ध्य वन के ऊपर से उड़ेगा कवि तब इस उपमान की उद्भावना कर रहा है, चरवाहा वन में ही गायें चराता है। कवि कहता है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥

(पूर्वमेघ १५)

अर्थात् मेघ ! देखो सामने बांबी के अग्रभाग से इन्द्रधनुष का दर्शनीय खण्ड उदय हो रहा है जो अनेक रत्नों की चमक का मिश्रण-जैसा है। उसके संयोग से तुम्हारा नीला शरीर अत्यधिक शोभा को प्राप्त करेगा, उस समय तुम चमकते मोरपंख का मुकुट पहने चरवाहा विष्णु के समान दिखाई पड़ोगे। कृष्ण शरीर से श्याम हैं। बादल कृष्ण बन जाएगा। इससे बड़ी शोभा उसकी क्या हो सकती है।

पूर्वमेघ का ही दूसरा उदाहरण है—

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्षस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्॥

(पूर्वमेघ ५६)

यक्ष बादल से कह रहा है कि कस्तूरी मृगों के बैठने से जिसकी शिलाएँ महकती रहती हैं, जहाँ से गंगा निकलती है, हिम से ढके रहने के कारण जो सफेद है उस हिमालय पर्वत को प्राप्त कर अपनी थकावट मिटाने के लिए तुम उसकी चोटी पर बैठकर विश्राम करोगे, तब तुम उस शोभा से युक्त होओगे जो शोभा

त्रिनयन शिव के उजले बैल द्वारा मिट्टी के टीले उखाड़ने में सींग पर लगे कीचड़ की होती है। इस उपमा में देश-काल की संगति से अनिर्वचनीय सुन्दरता आ गई है। वर्षाकाल में बैल उन्मत्त होकर मिट्टी के टीलों को उखाड़ते हैं जिससे उनके सींग पर मिट्टी लग जाती है; उपमान शिव के बैल का है जो कैलासपर्वत में है और कैलास हिमालय का ही एक भाग है और गंगोत्री के निकट ही है और वर्णन वर्षाकाल का ही नहीं वर्षाकाल के प्राण बादल का है। उपमान उसी देश और उसी ऋतु का है।

कुमारसंभव के आठवें सर्ग में कवि ने संध्या का विस्तृत वर्णन किया है और अनेक चित्र उपमा के माध्यम से प्रस्तुत किये हैं। जैसे-जैसे संध्या के दृश्य बदल रहे हैं और रात आ रही है कवि नए-नए उपमानों द्वारा बदलती वस्तुस्थिति-को प्रत्यक्ष करता जाता है। सूर्य डूबने जा रहा है, उसकी किरणें सिमट गई हैं, केवल लालबिम्ब पश्चिम दिशा में क्षितिज में दिखाई पड़ रहा है। कवि इस वस्तुचित्र के उपमान प्रस्तुत कर रहा है—

दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका॥

(कुमार० ८।४०)

यह सूर्य इस समय वारुणीदिक् रूपी कन्या के भाल पर केसरयुक्त बन्धुजीव के फूल का तिलक बनकर शोभित हो रहा है।

सूर्य डूब गया है, लाल पीले पिंगल वर्ण के बादलों के अनेक टुकड़े आकाश में छा गए हैं ये क्या हैं कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है—

रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः।
द्रक्ष्यसि त्वमिति सन्ध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः॥

(कुमार० ८।४५)

ये हैं इस सन्ध्या के द्वारा मानो कूची से रंगे गए मेघखण्ड और इस आशय से रंगे गए हैं कि पार्वती इन्हें देखेगी।

बादलों को इस प्रकार रंगा देखकर पार्वती का विनोद होगा यह सामान्य अर्थ है। पर कवि ने यहाँ पार्वती को लक्ष्य कर ही विशिष्ट अर्थ की व्यञ्जना की है जो बाद में शाक्त और शैवदर्शन में निरूपित हुआ है। सन्ध्या जगन्माता पार्वती का तृतीय नेत्र है। सौन्दर्यलहरी में शंकराचार्य कहते हैं—

तृतीया दृष्टिस्ते दरदलितहेमाम्बुजरुचिः।
समाधत्ते सन्ध्यां दिवसनिशयोरन्तरचरीम्॥

अर्थात् दिनरात के बीच ये लाल पीले पिंगल मेघखण्ड पार्वती के नेत्र के रंग से रंगे कौतुक बन रहे हैं।

सूर्यास्त हो गया, हिमालय पर सन्ध्या का आतप समाप्त हो रहा है। केवल तीन वस्तुओं में उस आतप का सुनहला रंग अब भी दिखाई पड़ रहा है, सिंह की केसर-सटाओं में, वृक्षों के निकल रहे नए पत्तों में तथा गैरिक धातु से रंगीन गिरि की चोटियों में, मानों सूर्य ने जाते समय अपने सुनहले आतप को इन तीनों में बाँट दिया है—

सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च।
पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सान्ध्यमातपम्॥
(कुमार० ८।४६)

बढ़ता हुआ अन्धकार सन्ध्या को घेरता जा रहा है। उसकी लालिमा अब केवल क्षितिज पर छायी रह गई है। कवि की उक्ति है—

तामिमां तिमिरवृद्धिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम्।
एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव॥
(कुमार० ८।५३)

शिव कह रहे हैं—शैलराजपुत्रि! देखो अन्धकार ने संध्या को चारों ओर से घेर लिया, अब उसकी लालिमा अन्धकार से आवृत होकर ऐसी मालूम पड़ रही है जैसे गेरू की लाल नदी बह रही हो और उसके एक ओर तमाल के वृक्षों की कतार हो।

अन्धकार और अधिक बढ़ गया तथा वस्तुचित्र परिवर्तित हो गया तब कवि कहता है—

सान्ध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तलेखमपरा बिभर्तिदिक्।
साम्परायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम्॥
(कुमार० ८।५४)

अस्त होते-होते सन्ध्या की थोड़ी सी लालिमा पश्चिम दिशा में रक्त की रेखा के समान शेष रह गई मानो युद्धभूमि में खून से रंगी तलवार को किसी ने वार करने के लिए तिरछे तान लिया हो।

आकाश अँधेरे में डूब गया तब तक पूर्वदिशा में जैसे केतकी के फूल का उजला पराग फैलता हुआ मालूम पड़ा, निश्चय हुआ कि यह चन्द्रमा उदित हो रहा है। चन्द्रमा का उदय केतकी के फूल के पराग के विस्तार-सा है।

नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये।
पुण्डरीकमुखि पूर्वदिङ्मुखं केतकैरिव रजोभिराहतम्॥
(कुमार० ८।५८)

चन्द्रमा उदित हो गया। उसकी किरणें फैल रही हैं। रात्रि के अन्धकार में चन्द्रबिम्ब की शोभा का वस्तुचित्र कवि उद्‌भावित करता हुआ कहता है—

अङ्गुलीरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥
(कुमार० ८।६३)

अर्थात् चन्द्रमा अंगुली के समान अपनी किरणों से अन्धकाररूपी केश समूह को जो रात्रि के मुख पर पड़े थे, ऊपर सँवार कर रजनी के मुख को मानो चूम रहा है, उस आनन्द में रजनी ने अपने कमलनेत्रों को मूँद लिया है। अर्थात् रात्रि में अब चाँदनी का प्रसार हो गया है। इस उक्ति में कवि ने उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा—तीन प्रकार की कल्पनाओं का सौन्दर्य एक साथ ही चित्रित किया है। रसवादी आलोचक इस उक्ति की उत्कृष्टता में संभोगश्रृंगार का दर्शन करेंगे क्योंकि वे बिना रस के काव्य-रचना की उत्कृष्टता नहीं मानते। पर सच बात यह है कि उपमान के माध्यम से कवि ने एक ऐसे ललित वस्तुचित्र की सृष्टि की है, जो वस्तुचित्र हमारा है सबका है।

चन्द्रमा की किरणों से अन्धकार छँट गया और आकाश प्रसन्न दीखने लगा। कवि कहता है यह वस्तुस्थिति ऐसी ही भली मालूम पड़ रही है जैसे हाथियों के क्रीड़ा-अवगाहन करने से मानस सरोवर का जो जल गँदला होगया था अब निर्मल हो चला—

पश्य पार्वति नवेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम्।
लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः॥
(कुमार० ८।६४)

कवि ने ऐसी उपमाएँ बहुत उद्‌भावित की हैं जिनसे वस्तुचित्र या भाव-चित्र सामने उपस्थित हो जाता है, तथा ऐसी उपमाएँ अपने उपमान-वर्णन को इतना मनोहारी बना देती है कि पता नहीं चलता कि सौन्दर्य अर्थ में है या इन उपमानों की उद्‌भावना में, मेघदूत का यह वस्तुचित्र देखिये—

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै
स्त्वय्यारुढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।

नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥

(पूर्वमेघ १८)

मेघ को रास्ते में आम्रकूट पर्वत मिलेगा जो वर्षाकाल में पके आमों से पीला दिखाई पड़ेगा। चिकनी वेणी के समान काला बादल जब उसके शिखर पर आरूढ़ होकर विश्राम करेगा तब आकाशचारी देवदम्पति उस पर्वत की दर्शनीय शोभा को देखेंगे। वह पर्वत बादल के शिखर पर बैठने से बीच में काला तथा चारों ओर पीले रंग में चमकता पृथ्वी का स्तन बन जाएगा।

वस्तुचित्र को प्रकट करनेवाली कालिदास की उपमा कहीं कहीं कथा के सन्दर्भ को भी अपने में सँजोए रहती है तथा जितनी ही गहराई से उस उद्भावना पर विचार किया जाय कवि के काव्यार्थ के साथ वह सब प्रकार से ओतप्रोत दिखाई पड़ती है। कवि की प्रतिभा का मूल्यांकन करने में आलोचक की बुद्धि हार मान लेती है। रघुवंश के द्वितीय सर्ग में सिंह ने नन्दिनी पर आक्रमण कर दिया है, कवि की उद्भावना का लालित्य देखिये—

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्॥

(रघु० २।२९)

धनुर्धारी उस राजा ने देखा—पाटलरंग की गाय के ऊपर सिंह स्थित है, जैसे पर्वत की गैरिक अधित्यका पर लोध्र का वृक्ष फूला हो। वस्तुचित्र का लालित्य यह है कि कवि ने गाय और सिंह के रंग का अच्छा साम्य ढूँढा है—गैरिक अधित्यका तथा कुसुमित लोध्रवृक्ष, पर बात यहीं तक नहीं है। कथा के सन्दर्भ के साथ यह वस्तुचित्र संयुक्त है। गैरिक अधित्यका पर लोध्रवृक्ष कुसुमित है। कहने को तो सिंह ने गाय पर आक्रमण किया है पर उसकी स्थिति लोध्रवृक्ष के समान है अर्थात् यदि अधित्यका नहीं है तो लोध्रवृक्ष नहीं रहेगा। इसी प्रकार नन्दिनी के द्वारा ही सिंह का प्रभव है, क्योंकि आगे सिंह के ओझल हो जाने पर नन्दिनी कहती है—

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो
मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि।

(रघु० २।६२)

वस्तुचित्र के कई उपमान रघुवंश के तेरहवें सर्ग में हैं जहाँ राम पुष्पक विमान से आकाश-मार्ग से अयोध्या की यात्रा कर रहे हैं। समुद्र में अपना निर्मित पुल देखकर उन्होंने कहा—

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम्॥
(रघु० १३।२)

वैदेहि! देखो मेरे इस सेतु ने समुद्र की फेनिल जलराशि को मलयपर्वत तक दो भागों में बाँट दिया है, सेतु से विभक्त यह फेनिल समुद्र शरद् ऋतु के तारों से भरे उस आकाश के समान शोभित है जिसे आकाशगंगा ने दो भागों में विभक्त कर दिया हो।

वस्तुचित्र की एक साथ अनेक मनोहारी उद्‌भावनाएँ कवि ने प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम के सौन्दर्यदर्शन में की हैं। कवि की उक्तियाँ देखिये—

क्वचित् प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयीयष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित् खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्रकालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित् प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा॥
(रघु० १३।५४-५६)

गंगा की शुभ्र जलधारा यमुना की श्याम तरंगों से मिलकर विविध आकृतियों में अपना सौन्दर्य बिखेरती है। कहीं इन धाराओं ने मोती की माला में इन्द्रनीलमणि पिरो दिये हैं। अन्यत्र शुभ्र कमलों की माला बीच-बीच में गुथे हुए नीलकमलों से युक्त है। कहीं यह संगम चन्दन की रेखाओं की भक्ति में काले अगुरु से चित्रित पत्रों के समान है। कहीं ऐसा लगता है कि चन्द्रमा की चाँदनी वृक्ष के नीचे छाया के अन्धकार से मिश्रित होकर चितकबरी फैली हो। अन्यत्र यह संगम शरद् काल के उन उजले बादलों के समान है, जिनके बीच-बीच में छिद्रों से नीला आकाश झलक रहा हो। कवि गंगा-यमुना के संगम का सौन्दर्य दर्शन करने में प्रीतिमुग्ध है। सौन्दर्य के इतने उपमान उद्‌भावित करने के बाद भी उसका हृदय तृप्त नहीं है और वह उस उपमान की कल्पना करता है जिसके बाद वह कुछ नहीं कहना चाहेगा—

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥
(रघु० १३।५७)

और कहीं यह संगम काले सर्पों का आभूषण लपेटे भस्मभूति शिव के शरीर की शोभा उद्भासित कर रहा है। इस प्रकार संगम के विविध वस्तुचित्रों की परम्परा में चरम एवं सर्वोत्कृष्ट चित्र कवि को अपने आराध्य देवता भगवान् शंकर का सूझता है।

अब कुछ भावचित्रों को देखिए—

> तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
> पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णसारप्रभाणाम्।
> कुन्दक्षेपानुगमधुकर - श्रीमुषामात्मबिम्बं
> पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ (पूर्वमेघ ५१)

हे मेघ ! चम्बल नदी पार कर तुम आगे जाना, वहाँ दशपुर प्रान्त की युवतियाँ तुमको अपनी ललचाई आँखों से देखेंगी, उनकी आँखों से देखा जाना कम सौभाग्य की बात नहीं है, तुम उन आँखों से देखे जाओगे जो कटाक्ष करने में दक्ष हैं, पलकें उठने के साथ काली पुतलियाँ काले मृग की चंचलता के समान अपना विलास दिखाती हैं तथा उनका विलास उस शोभा को चुराता है जो शोभा हिलते हुए कुन्दपुष्प के ऊपर उसी के साथ मँडराते भौंरे की होती है। इन उपमानों में कवि ने काली पुतलियों की चञ्चलता का भाव (क्रिया) चित्र समुपस्थित किया है तथा नारी के नयनविलास के सौन्दर्य को उपमान की क्रिया से चारुतर बना दिया है।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग है जहाँ कजरारी आँखों के कटाक्ष की तुलना उड़ती भ्रमर पंक्ति से की गई है। कटाक्ष केवल क्रिया है उसका वस्तुरूप नहीं है, पर उसका रूप होगा तो कैसा होगा, यह देखिए—

> पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
> रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
> वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
> नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्॥ (पूर्वमेघ ३९)

महाकाल-मन्दिर के प्रांगण में नृत्य करती वेश्याएँ अपने नखक्षतों पर जब मेघ द्वारा वर्षा की प्रथम बूंदों का सुखदायी स्पर्श प्राप्त करेंगी तब मेघ की ओर अपनी लम्बी चितवन से देर तक देखेंगी उनकी वह चितवन भौंरों की कतार सी कजरारी मोह लेनेवाली होगी।

भाव-चित्र का अधिक प्रत्यक्ष उपस्थापन कैलास के वर्णन में है—

> गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
> कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।

शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥

(पूर्वमेघ ६२)

यक्ष बादल से कह रहा है कि आगे ऊपर जाकर तुम उस कैलास पर्वत के अतिथि बनोगे जिसकी शिलाएँ देववनिताओं के लिये दर्पण का काम देती हैं। दशमुख रावण ने जिसे एक बार उठाकर उसके शिखरों को हिला दिया था। यह उसका इतिहास है, पर जो अपने वर्तमान में सदा कुमुद के फूल के समान शुभ्र ऊँचे शिखरों से आकाश को घेर कर स्थित है जैसे त्रिनयन शिव का दिन-प्रतिदिन का अट्टहास एकत्र हो गया हो।

भावचित्र की एक प्रसिद्ध उपमा कुमारसंभव से उद्धृत की जाती है—

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥

काम ने पार्वती के निकट से ही अपना संमोहन बाण धनुष पर चढ़ाया। उस समय समाधि में बैठे भगवान् शिव का भी धैर्य कुछ विचलित हो चला। चन्द्रमा के उदय पर चंचल समुद्र की जलराशि के समान उन्होंने अपने नेत्रों की चितवन पार्वती के बिम्बफल से लाल अधरोष्ठ पर डाली। इस भावचित्र में उपमान को उपस्थित करने में कवि ने सूक्ष्म प्रतिभा से काम लिया है और शिव की समता अगाध समुद्र से की है, इसीलिये समुद्र के समान उनका धैर्य किञ्चित ही लुप्त होता है।

कालिदास के उपमा-प्रयोग कितने अर्थगर्भित, सुकुमार तथा काव्यार्थ के व्यंजक हैं यह उक्त उदाहरणों से जाना जा सकता है। कालिदास का समस्त काव्य-वैभव उपमानोद्भावना से ओतप्रोत है। सच बात तो यह है कि जब कालिदास ने अपनी काव्यरचना की थी तब रस की प्रतिष्ठा नहीं की गई थी, ध्वनि-सिद्धान्त का उन्मीलन भी नहीं हुआ था किन्तु उपमा या औपम्य का सिद्धान्त काव्यसिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित था। कवि के सामने यह सिद्धान्त था पर कवि ने इस सिद्धान्त को सामने रखकर काव्य-रचना नहीं की थी क्योंकि वे सहज सारस्वत कवि थे। जाने-अनजाने औपम्य सिद्धान्त का प्रभाव उनकी काव्यसाधना पर पड़ा था, जिसकी उद्भावना में उन्होंने काव्य के ऐसे लालित्य की सृष्टि की है जिसमें काव्यालोचन के उन्मीलित होने वाले भविष्य के सभी सिद्धान्त समाहित होते रहेंगे।

⊙

२. भारवि का अर्थ-गौरव

भारवि की एक ही रचना प्राप्त है वह है किरातार्जुनीय महाकाव्य। यह अलंकृत शैली का महाकाव्य है। इस महाकाव्य में कुल १८ सर्ग हैं। काव्य-शास्त्र में महाकाव्य की जो परिभाषा दी गई है उन शास्त्रीय लक्षणों की संगति इस महाकाव्य की रचना में पायी जाती है। महाकाव्य की कथावस्तु व्यास-रचित महाभारत काव्य से ली गयी है। मध्यकाल में जो महाकाव्य कथा, आख्यायिका या नाटक लिखे गये हैं उनके आधार रामायण, महाभारत और बृहत्कथा काव्य हैं। किरातार्जुनीय महाकाव्य का कथा-प्रबन्ध पाण्डवों के वनवास-काल का है जब वे द्यूत में अपना राज्य हारकर बारह वर्ष का वनवास व्यतीत कर रहे थे। मूलकथा केवल इतनी है कि उस वनवास-काल में पाण्डवों के शुभेच्छु कृष्ण और व्यास ने अर्जुन को सलाह दी कि तुम हिमालय पर जाकर शिव की तपस्या करो और उनको प्रसन्न कर पाशुपत अस्त्र प्राप्त करो, क्योंकि बारह वर्ष का वनवास व्यतीत हो जाने पर भी कौरवराज सुयोधन बिना युद्ध के राज्य देगा नहीं और उस युद्ध की तैयारी तुम्हें अभी से करनी चाहिए। कौरव-पक्ष के महारथी भीष्म, द्रोण और कर्ण को विजय करने का दायित्व तुम पर होगा इसलिए तुम शिव को प्रसन्न कर पाशुपत अस्त्र प्राप्त करो। अर्जुन हिमालय पर्वत पर गये, शिव की तपस्या की, और एक दिन शिव ने किरात का वेश धारण किया तथा एक वराह का पीछा करते हुए वे निकले। अर्जुन ने शिकार पर अपना बाण चला दिया। यह किरात के लिए अपमान-जनक था। फिर किरातवेश-धारी शिव और अर्जुन में युद्ध शुरू हो गया। युद्ध में अर्जुन के पराक्रम से शिव प्रसन्न हो गये और प्रसन्न होकर उन्होंने अपना प्रत्यक्ष दर्शन दिया, वरदान दिया और पाशुपत अस्त्र प्रदान किया। अर्जुन प्रसन्न होकर अपने भाइयों के पास लौटे। इसी कथा को विस्तार देकर भारवि ने महाकाव्य की कथा-वस्तु बना दिया है। यह विस्तार करने में उन्होंने शास्त्रीय लक्षणों का सहारा लिया है, जैसे दूत, मन्त्रणा, ऋतु-वर्णन, हिमालय-वर्णन, अप्सराओं का विलास, जल-क्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, संवाद, युद्ध आदि। भारवि को अपने इस महाकाव्य से बड़ी ख्याति मिली। सातवीं शती ई० के आरम्भ (६३४ ई०)

में जैन कवि रविकीर्ति ने एहोल शिलालेख में अपने को कालिदास और भारवि के समान काव्य-रचनाकार बताया।[१] अर्थात् कालिदास के समानान्तर भारवि का भी यश कवि के रूप में प्रसृत हो रहा था।

आज जब हम देखते हैं तब कालिदास और भारवि में बड़ा अन्तर है। कालिदास वस्तुतः सहज प्रतिभा के सुकुमार मार्ग के कवि हैं भारवि उनकी छाया नहीं छू सकते। वे आहार्य प्रतिभा के कवि हैं। महान् रचनाकार बाणभट्ट ने कालिदास की प्रशस्ति गायी है पर भारवि की नहीं। पर ऐसा लगता है कि भारवि किसी विशिष्ट मार्ग और गुण के प्रतिष्ठाता कवि थे इसलिए काशिका वृत्ति में इनका उद्धरण दिया गया। यह तो सामान्य बात है। पर किसी सूक्तिकार ने कालिदास आदि के साथ भारवि की प्रशंसा उनके एक विशिष्ट रचना-तत्त्व के लिए की है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

अर्थात् कालिदास उपमा के लिए, भारवि अर्थ-गौरव के लिए और दण्डी पद-लालित्य के लिए प्रसिद्ध हैं, माघ कवि में ये तीनों गुण पाये जाते हैं। यहाँ पर अर्थ-गौरव से क्या तात्पर्य लिया जाय, यह विचारणीय विषय है। काव्य-रचना में अर्थ-गौरव की स्थिति वहाँ मानी जानी चाहिए, जहाँ थोड़े से शब्दों में अनिर्वचनीय अनेक अर्थों की परम्परा लालित्य के साथ उल्लसित हो रही हो। जहाँ कवि का छन्द अपने पूर्व और पश्चात् के कथा-प्रबन्ध का सूत्र अपने अर्थ में पिरोये हुए हो। अर्थ-गौरव की यह परम्परा कालिदास में पायी जाती है। भारवि के काव्य में इसके दर्शन नहीं होते। यह बात आगे उदाहरणों से स्पष्ट की जायगी। पर जो भी हो भारवि के अर्थ-गौरव की लीक हम पीटते चले आ रहे हैं। संस्कृत-साहित्य के इतिहास-लेखक से लेकर काव्य का अध्येता तक भारवि के छन्दों में अर्थ-गौरव के विश्लेषण में प्रवृत्त हो जाता है। वहाँ अर्थ-गौरव हो या न हो। पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस अर्थ-गौरव के प्रवाद के पीछे कोई न कोई इतिहास है, किसी न किसी घटना की संरचना है। पहले हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि भारवि के काव्य में अर्थ-गौरव का वस्तु-तत्त्व नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है किरातार्जुनीय महाकाव्य का कथा-प्रबन्ध बहुत लघु है। इस लघु कथा-प्रबन्ध का कवि ने मनचाहा विस्तार किया है। इसलिए

---

१. येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदास-भारवि-कीर्तिः॥

कथा-प्रबन्ध के अर्थ-गौरव की बात यहीं समाप्त हो जाती है। इसकी तुलना में जब हम रघुवंश काव्य के कथा-प्रबन्ध को देखते हैं तो आश्चर्य होता है, राजनीति, संस्कृति, आचार और सभ्यता का एक लम्बा इतिहास कवि ने रघुवंश के उन्नीस सर्गों में इतना सघन और इतने लालित्य के साथ पिरो दिया है कि उसका सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अध्ययन किया जाय तो एक हजार पृष्ठों का ग्रन्थ तैयार हो जायेगा। विद्वानों ने ऐसा किया ही है। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने 'कालिदास का भारत' नामक ग्रन्थ दो जिल्दों में लिखा है। भारवि के किरातार्जुनीय में संस्कृति और सभ्यता के विश्लेषण के सूत्र बहुत अल्पमात्रा में हैं। वे सामान्य राजाओं के जीवन और सुख-विलास का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें राष्ट्रीय गरिमा का कोई आभास नहीं है। आश्चर्य इस बात का है कि भारवि को भारत का भूगोल नहीं मालूम है। उनको यह नहीं ज्ञात है कि हिमालय कितना ऊँचा है। वे लिखते हैं कि हिमालय इतना ऊँचा है कि वह सूर्य के प्रकाश को भी रोक देता है। वे यह नहीं जानते कि सूर्य का प्रकाश हिमालय के दोनों ओर जायेगा। वे हिमालय के वर्णन में लिखते हैं—

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा॥

(किरात० ५।२)

अर्थात् हिमालय एक ओर सूर्य के प्रकाश से दीप्त रहता है और उसकी दूसरी ओर अन्धकार छाया रहता है। इस प्रकार वह गज की खाल ओढ़े अट्टहास करते शिव की समानता करता है।

पर हिमालय ऐसा है नहीं। भारवि को भूगोल का ठीक परिचय नहीं है।

कवि भारवि ने एक ही अर्थ को बार-बार कई उक्तियों में दोहराया है। उदाहरण के लिए प्रथम सर्ग में देखिए, कवि ने एक बार लिखा—

न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥

(किरात० १।२)

फिर एक छन्द के बाद ही इसी अर्थ को वह दोहरा देता है—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥

(किरात० १।४)

वनेचर युधिष्ठिर से एक बार सुयोधन की न्याय-नीति की प्रशंसा करता है—

दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥

(किरात० १।७)

एक छन्द के बाद फिर इसी न्याय-नीति की प्रशंसा को दोहराता है—

विभज्य नक्तं दिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥

(किराता० १।१९)

अर्थों की यह पुनरावृत्ति भारवि के अर्थ-गौरव को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर रही है।

पूरे महाकाव्य में अर्थों की यह पुनरावृत्ति पाई जाती है। अब दूसरे सर्ग के कुछ उदाहरण देखिए—

मूल अर्थ जो कवि कहना चाहता है वह यह है कि महान् लोग अपने तेज और यश के मानी होते हैं। इसी बात को कवि शब्द-भेद से तीन बार कहता है।

लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥

(किराता० २।१८)

अभिभूतभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ॥

(किराता० २।२०)

प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥

(किराता० २।२१)

ये उक्तियाँ भीमसेन की हैं, जो विक्रम और क्रोध के पक्षधर हैं। इसके उत्तर में युधिष्ठिर उन्हें नीति की बात समझाने लगते हैं तब क्रोध अच्छा नहीं है इस एक अर्थ की अनेक बार आवृत्ति भारवि युधिष्ठिर के मुँह से कराते हैं——

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ॥

(किराता० २।३६)

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ॥

(किराता० २।३७)

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः ॥

(किराता० २।४०)

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तः प्रकृतिप्रकोपजः।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः ॥

(किराता० २।५१)

इसी प्रकार जो विवेकशील है वही सफलता प्राप्त करता है और उसे ही लक्ष्मी मिलती है, शब्द भेद के साथ कवि इस अर्थ को तीन छन्दों में दोहराता है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेवसम्पदः ॥

(किराता० २।३०)

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति॥
(किराता० २।३१)

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥
(किराता० २।३३)

यह क्रम किरातार्जुनीय के प्रत्येक सर्ग में है। कवि अपने कहे हुए अर्थ को प्रकारान्तर से दूसरे शब्दों में दुहराता चलता है और अर्थ-गुरुता की रक्षा नहीं करता। अर्जुन हिमालय पर तपस्या करने जा रहा है द्रौपदी सामने आ जाती है और उसके हृदय में दुःशासन द्वारा केश खींचे जाने का अपमान बिल्कुल नया हो जाता है। इस अर्थ को द्रौपदी अर्जुन से प्रकारान्तर से दो बार कहती है—

प्रसह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुम्।
नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः॥
(किराता० ३।४४)

दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः।
केशैः कदर्थीकृत-वीर्यसारः कच्चित्स एवासि धनंजयस्त्वम्।
(किराता० ३।४७)

इतना ही नहीं द्रौपदी यह कहने के बाद क्षत्रिय की परिभाषा कहने लगती है—

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
वहन्द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तम्॥
(किराता० ३।४८)

सच बात तो यह है कि क्षत्रिय शब्द की यह परिभाषा ऊपर की उक्तियों में अपने आप ध्वनित हो रही है। अलग से उसे कहने की आवश्यकता नहीं थी और द्रौपदी अर्जुन को क्षत्रिय बनने का उपदेश दे, यह भी कवि की हीन अर्थ-योजना है। इस सन्दर्भ में काव्य-रचना का सौष्ठव किसमें है, हमें कुन्तक की व्युत्पत्ति को प्रमाण रूप में ग्रहण करना चाहिए—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व—मनोहारिण्यवस्थितिः ॥

अर्थात् काव्य-रचना की शोभा शब्द और अर्थ के साहित्य—सामञ्जस्य पर निर्भर है और वह सामञ्जस्य इस बात पर निर्भर करता है कि कवि शब्द-अर्थ दोनों का प्रयोग न तो कहीं न्यून होने दे और न कहीं अतिरिक्त होने दे। उसी अर्थ

की पुनरावृत्ति करना अतिरिक्त अर्थ-योजना ही है और ऐसे में अर्थ-गुरुता की रक्षा हो नहीं सकती।

भारवि की शब्दार्थ-योजना में अर्थ को सद्यः अभिव्यक्त कर देने की क्षमता नहीं है। अर्थात् प्रसाद-गुण-युक्त जैसी प्रसन्नवाणी का प्रयोग कालिदास ने किया है ऐसी वाणी का दर्शन हमें भारवि के काव्य में नहीं होता। प्रकारान्तर से इसका नाम 'क्लिष्टता है, पर उनके काव्य में अर्थ कहीं पर दुर्बोध नहीं है। तब यह बात समझ में नहीं आती कि किरातार्जुनीय के व्याख्याकार मल्लिनाथ भारवि के शब्द-अर्थ के किस गुरुत्व को लक्ष्य कर यह कहते हैं कि भारवि की वाणी नारिकेल के फल के समान है, मैं उसे तुरन्त तोड़ रहा हूँ, रसिक लोग इच्छानुसार रस-तत्त्व से युक्त इस वाणी के सार का आस्वादन करें—

नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भ-निर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

भारवि की ऐसी वाणी जो नारिकेल फल के समान कठिन शब्द-विन्यास से युक्त है वह केवल महाकाव्य के १५वें सर्ग में चित्रालंकारों के प्रयोग में प्रयुक्त हुई है। लेकिन उसकी तुलना नारिकेल से इसलिए नहीं की जा सकती कि नारिकेल तो रस से भरा होता है पर चित्रालंकारों का सारा चमत्कार शब्द-विन्यास में ही होता है। शब्दों की व्युत्पत्ति कर उस आवरण को तोड़ देने पर जो अर्थ मिलता है उसकी स्थिति रस की बात तो दूर रही, अर्थवान् काव्य की भी नहीं रह जाती। एक उदाहरण देखिए—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥
(किराता० १५।१४)

(पदच्छेद—न ना ऊननुन्नः नुन्नोनः ना अना नानाननाः।
नुन्नः अनुन्नः ननुन्नेनः ना अनेनाः नुन्ननुन्ननुत्।)

चित्रालंकार की इस उक्ति का अर्थ है—शिव के गणों को जो अर्जुन से युद्ध में परास्त हो रहे हैं सम्बोधन कर कहा जा रहा है नाना प्रकार के मुखवालो, सुनो, निश्चित रूप से जो अपने से निकृष्ट द्वारा विद्ध हो रहा है वह पुरुष नहीं है! जो अपने से कमजोर को मार रहा है वह भी पुरुष नहीं है (कापुरुष है) जिसने अपने स्वामी की रक्षा कर ली वह बाण से विद्ध होकर भी विद्ध नहीं है। जो विद्ध है उसे अतिशय रूप से पीड़ा पहुँचाने वाला पुरुष पाप कर रहा है। (युद्ध में इन नीतियों का ध्यान रखो)

इस कसौटी पर जब हम ध्यान देते हैं तब लगता है, मल्लिनाथ ने भारवि के अर्थ-गौरव की बात को गतानुगतिक लोक से सुनकर ही उसकी उपमा नारिकेल से दे दी है। भारवि की वाणी नारिकेल नहीं है। उसके शब्द-विन्यास को सहज अलग किया जा सकता है और उसका अर्थ समझा जा सकता है। १५वें सर्ग की चित्रालंकार की वाणी नारिकेल नहीं है क्योंकि उसमें रस नहीं है। वह तो अर्जुन के फल के समान है जिसको तोड़ दिया तो अन्त में उसमें कुछ मिलनेवाला नहीं।

यह निश्चय कर लेने के बाद भी कि भारवि के महाकाव्य में अर्थ-गौरव नहीं है हम इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते कि अर्थ-गौरव का प्रवाद यों ही चल पड़ा। अवश्य ही इसके पीछे कोई न कोई इतिहास है। कुछ लोगों का कहना है कि अर्थ-गौरव का यह प्रवाद भारवि की एक उक्ति से लिया गया है वह उक्ति यह है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थ-गौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

(किराता० २।२७)

पर इस उक्ति में अर्थ-गौरव के उल्लेख से यह प्रवाद नहीं चला। क्योंकि भारवि ने अपनी वाणी के गुणों के बारे में स्थान-स्थान पर प्रकारान्तर से जो अभिमान प्रकट किया है उन गुणों में सौष्ठव, उदार, श्लेष, प्रसाद, सुकुमार (मनोरम) गुणों के साथ विनिश्चितार्थ या वाणी के सारवान् गुण का भी उल्लेख हुआ है। पर स्वयं कवि की दृष्टि में उसकी वाणी अर्थतत्त्व के अतिरिक्त और अनेक गुणों से विभूषित है। फिर केवल अर्थ-गौरव का ही प्रवाद क्यों चल पड़ा। भारवि प्रकारान्तर से अपनी वाणी के जिन गुणों का उल्लेख करते हैं उस चर्चा की कुछ सूक्तियाँ इस प्रकार हैं—

स सौष्ठवौदार्य-विशेष-शालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे।

(किराता० १।३)

परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः।

(किराता० १।२५)

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते॥

(किराता० २।२६)

उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः।

(किराता० ३।१०)

विविक्त-वर्णाभरणा सुख-श्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥
(किराता० १४।३)

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम्॥
(किराता० १४।४)

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसंपदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः॥
(किराता० १४।५)

समस्य संपादयता गुणैरिमां त्वया समारोपितभार भारतीम्।
प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्य वाग्मिनां वनेचरेणापि सताधिरोपितः॥
(किराता० १४।६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारवि ने गुणों से युक्त वाणी की प्रशंसा की है। ऊपर के प्रकरण भिन्न-भिन्न संवादों में आए हैं और उन संवादों के प्रसंग में वाणी के सौष्ठव एवं मनोरम गुणों को ध्यान में रखकर जो प्रशंसा की जा रही है वस्तुतः यह प्रशंसा प्रकारान्तर से भारवि की अपनी काव्य-वाणी की है। उन्होंने इस प्रकार अपने वाणी-विन्यास के प्रति अपना अभिमान प्रकट किया है। वाणी के जिन गुणों का नामोल्लेख ऊपर हुआ है, इन गुणों की पहली चर्चा रुद्रदामन के गिरनार (१५० ई०) के शिलालेख में हुई है। इसके बाद आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में इन गुणों का शास्त्रीय विवेचन किया है। उन्होंने काव्य-रचना के दो मार्ग बताये—वैदर्भ मार्ग और गौड मार्ग। फिर उन्होंने वैदर्भ मार्ग के प्राण दश गुणों का उल्लेख किया।

वे दश गुण इस प्रकार हैं— श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि। यही दश गुण कुछ थोड़े से उलट फेर के साथ गौड़ मार्ग में भी पाये जाते हैं।[1] आचार्य दण्डी ने इसी सामञ्जस्य में वैदर्भ तथा गौड दोनों मार्ग की काव्य-रचनाओं का निदर्शन किया है।

भारवि ने किरातार्जुनीय में सुष्ठु, उदार, विनिश्चितार्थ, स्फुटता, सुख-श्रुति, प्रसन्न, गम्भीर और मनोरम वाणी की इन विशेषताओं का जो उल्लेख किया है

---

१. काव्यादर्श १।४०-४२।

ये विशेषताएं दण्डी द्वारा निरूपित उन दश गुणों के भीतर समाहित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए सुष्ठु और सुख-श्रुति विशेषताएँ सुकुमारता गुण में हैं, औदार्य गुण अपने आप में उदारता है, विनिश्चितार्थ और स्फुटता अर्थव्यक्ति गुण में गतार्थ हैं। प्रसन्न प्रसाद गुण है, मनोरम माधुर्य है, गम्भीर का सम्बन्ध श्लेष और ओज दोनों के संयुक्त प्रभाव से है।

दण्डी ने अपने जिन गुणों का विवेचन किया, उन गुणों से युक्त काव्य की सूक्तियाँ विदग्ध-गोष्ठियों में सुनायी जाती थीं।[1] दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में विदग्ध-गोष्ठियों के अनुरूप होनेवाली नोक-झोंक के अनुसार ही गुणों के विभिन्न प्रयोगों का निदर्शन किया है। जिससे विदग्ध-गोष्ठी में बैठनेवाले कवियों के लिये काव्य-रचना की शिक्षा मिले।

भारवि का समय छठी शताब्दी का मध्य माना जाना चाहिए। दण्डी का समय नये शोध में चौथी शताब्दी का मध्य स्वीकार किया गया है।[2] वैदर्भ मार्ग के जिन गुणों का विवेचन दण्डी ने किया उनको औदीच्य काव्य-शास्त्रियों ने काव्य-रचना की श्रुति-पेशलता (गेयता, सुख-श्रुति) स्वीकार किया। अर्थात् वैदर्भ काव्य केवल गाये जाने योग्य श्रुति-पेशल है और उसमें अर्थ का अभाव है। दण्डी ने भी काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में इन गुणों के निरूपण में और इन गुणों से युक्त काव्य-रचना के प्रयोग में अक्षर-विन्यास के समायोजन का ही व्याख्यान किया है।

काव्य-शास्त्र के औदीच्य आचार्यों में प्रथम आचार्य भामह ने यह कह कर कि वैदर्भ काव्य केवल गेय होता है, उसे हीन काव्य कहा है, इसकी तुलना में गौड काव्य को श्रेष्ठ कहा है। क्योंकि वह अर्थयुक्त होता है। उन्होंने यह भी कहा कि वैदर्भ या गौड काव्य का ऐसा पृथक्करण नहीं किया जा सकता। (वस्तुतः यह संकेत उनका दण्डी के वैदर्भ-गौड मार्ग-विभाजन की ओर है।) भामह के सामने कोई अश्मकवंश काव्य था जिसकी अच्छाई के कारण भावक लोग उसे वैदर्भ काव्य कहते थे। भामह ने कहा है कि यह कहना गलत है कि अच्छा काव्य है तो

---

१. काव्यादर्श १।१०५
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्ध-गोष्ठीषु विहर्तुमीशते।।

२. आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास-दर्शन, (डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठी) पृष्ठ ४०९-३०।

वैदर्भ है। अच्छे काव्य का लक्षण अग्राम्यता और अर्थवान् होना है, वह वैदर्भ है तो भी अच्छा, गौड है तो भी अच्छा।[1]

भामह ने वैदर्भ काव्य के केवल गेय होने के दोष को सहसा ही न कहा होगा, औदीच्य की विदग्ध-गोष्ठियों में यह बात कम से कम आधी शती पहले जरूर कही जाने लगी होगी। तब भामह ने इसे अपने शास्त्रीय लक्षण में अभिनिविष्ट कर लिया होगा। औदीच्य की कवि-गोष्ठियों में केवल श्रुति-पेशल वैदर्भ काव्य की निन्दा भी दण्डी के काव्यादर्श की रचना के पचास वर्ष बाद की जाने लगी होगी। इस तारतम्य में हमें कवि भारवि की काव्य-रचना के उपक्रम का विश्लेषण करना चाहिए। ऐसा लगता है कि भारवि ने जब किरातार्जुनीय काव्य की रचना आरम्भ की होगी तब उनकी दृष्टि में वैदर्भ काव्य की यह निन्दा खटक रही होगी, उन्होंने यह प्रतिज्ञा की होगी कि मैं वैदर्भ काव्य के इस प्रवाद को दूर करूँगा कि वह अर्थवान् नहीं होता, तब उन्होंने किरातार्जुनीय को अग्राम्य और अर्थयुक्त काव्य-रचना का निदर्शन बनाया, ऐसा समझा जाता है। और यह भी सम्भव है कि इनका किरातार्जुनीय काव्य दक्षिण एवं उत्तर की विदग्ध-गोष्ठियों में परीक्षित हुआ हो, इसकी कसौटी की गयी हो और कसौटी के उपरान्त यह मान्यता प्रसारित कर दी गयी हो कि भारवि का महाकाव्य अर्थवान् है, अर्थ-गौरव से युक्त है। यद्यपि विदग्ध-गोष्ठी के भावक अपने परीक्षण में इतने तीव्र और गहन नहीं होते हैं कि वे ठीक-ठीक दो-टूक परीक्षा करें। भावना में आकर किसी की प्रशंसा या निन्दा कर देना उनकी सहज प्रवृत्ति होती है। अपनी इसी सहज भावना के प्रवाह में गोष्ठी के भावकों ने भारवि के काव्य में अर्थ-गौरव की स्थिति को प्रमाणित कर दिया। तथा यह बात पूर्णरूप से सत्य है, क्योंकि राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा ग्रन्थ में उज्जयिनी की काव्य-गोष्ठी में भारवि के

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।३२-३५

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते॥
अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥
अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥

काव्य की परीक्षा किये जाने का उल्लेख किया है और यह उल्लेख उन्होंने परम्परा को सुन कर किया होगा।[1]

यद्यपि जिसे अर्थ-गौरव कहते हैं वह भारवि के काव्य में है नहीं, तो भी उस समय की श्रुतिपेशल गेय वैदर्भ काव्य-रचनाओं की तुलना में किरातार्जुनीय की अर्थवत्ता प्रशंसनीय है। और एक बार जो प्रशंसा का साका चला और किसी सूक्तिकार ने अपनी सूक्ति में उसे निबद्ध कर प्रमाणित होने की मुहर लगा दी तब परम्परा मुड़कर पीछे नहीं देखती। जो कहा गया उसे कहती चलती है। काव्य-शास्त्र और काव्य-रचना के इतिहास के इसी सन्दर्भ में भारवि अर्थ-गौरव के कवि हैं, यथार्थ में नहीं। ऐसा लगता है कि भारवि की काव्य-रचना की यह कसौटी औदीच्य काव्य-गोष्ठियों को मान्य थी। उनकी मान्यता का यह प्रभाव महान् आचार्य कुन्तक को भी प्रभावित किये है। इसीलिए काव्य-शास्त्र और काव्य-रचना का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण करनेवाला तथा काव्य-सौन्दर्य का अद्भुत द्रष्टा कुन्तक भारवि को अपने वक्रोक्ति-जीवित में कई बार उद्धृत करता है और उनके काव्य-प्रयोग की प्रशंसा करता है। जबकि उसने माघ को उद्धृत कर माघ के काव्य में दोष बताया है। एक स्थान पर कुन्तक ने एक ही अर्थ को प्रस्तुत करने की तुलना में भारवि तथा दूसरे कवि को उद्धृत किया है और भारवि की अर्थ-प्रस्तुति को श्रेष्ठ कहा है। वह प्रसंग इस प्रकार है—वस्तु तो सामान्य ही होती है, लेकिन कवि की प्रतिभा का संस्पर्श पाकर उसका प्रस्तुतीकरण असामान्य हो जाता है, जैसे मणि का टुकड़ा पत्थर-जैसा ही होता है किन्तु शाणोल्लीढ़ होकर उसकी मनोहारिता सभी के लिए प्रत्यक्ष है। विदग्ध कवि द्वारा वक्र-वाक्योपारूढ़ वर्णनीय वस्तु सहृदयों के लिए आह्लादकारी काव्यत्व का चमत्कार बन जाती है। कवि अपनी रचना में सावधान है तो सामान्य वस्तु भी काव्य-सृष्टि बन जायगी, असावधान होने पर उसके विपरीत परिणाम होगा। इस प्रसंग में एक ही वस्तु के वर्णन में अवहित (सावधान) तथा अनवहित कवि-द्वय की रचनाओं के ये उदाहरण हैं, जो उनकी रचना के महान् अन्तर को स्पष्ट कर रहे हैं—

---

१. काव्यमीमांसा, अध्याय १०

महानगरेषु काव्यशास्त्रपरीक्षां ब्रह्मसभा कारयेत्, तत्परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च। श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

इह कालिदासमेण्ठावत्रामरसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

मानिनीजन - विलोचनपातान्
उष्णबाष्पकलुषानभिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं
भीतभीत इव शीतमयूखः ॥
(भारवि, किराता० ९।२६)

क्रमादेकद्वित्रिप्रभृति - परिपाटीः प्रकटयन्
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दाङ्कुररुचः।
पुरन्ध्रीणां प्रेयो विरहदहनोद्दीपितदृशां
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥

इन दोनों में जो अन्तर है उसका आकलन सहृदयों को करना चाहिए।[1]

प्रस्तुत वर्णन का प्रसंग है कि प्रिय के अन्यत्र चले जाने से मानिनियाँ अपनी चितवन में क्रोध से युक्त हैं। चन्द्रमा उनकी क्रुद्ध चितवन देखता, डरता उदित हो रहा है। कुन्तक का अभिप्राय है कि दूसरे छन्द में रमणीयताविशिष्ट शब्द का प्रयोग है, पर अर्थ (वस्तु) के प्रस्तुतीकरण में कवि अनवहित है, कहता है कि विरहाग्नि से दीप्त मानिनियों के कटाक्ष से डरता हुआ चन्द्रमा उदय हो रहा है, यह सहृदयजन-संवेद्य नहीं हैं, युवती के कटाक्ष से डरने की क्या बात हो सकती है, पर भारवि का वस्तु-प्रस्तुतीकरण ठीक है, उनका चन्द्रमा मानिनियों के वाष्पकलुष कटाक्षों को अभिग्रहण करता (पान करता) हुआ डरता-डरता-सा धीरे-धीरे उदित हो रहा है। यही भारवि का अर्थ-गौरव है कि वस्तुवर्णन में उनकी कवि-प्रतिभा सावधान (अवहित) है।



१. वक्रोक्तिजीवित १। का० ७

३. गाथा - सप्तशती और सूक्ति-मुक्तकों के लोक-कवि

आचार्य राजशेखर की काव्य-मीमांसा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुराने जमाने में कवि और राजा का अटूट सम्बन्ध था। राजशेखर ने राजा के द्वारा काव्य-गोष्ठियों के विधिवत् आयोजन का विस्तार से उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि राज-सभा में संस्कृत के कवि राजासन के उत्तर, पूर्व की ओर प्राकृत कवि, पश्चिम की ओर अपभ्रंश कवि तथा दक्षिण की ओर भूतभाषा के कवि विराजमान हों। उनके बीच-बीच में पौराणिकों, नटनर्तकों, वैकटिकों तथा गणिका, मल्ल, विट आदि के बैठने का निर्देश है।[१] उसी प्रकार राजतरंगिणी का लेखक कल्हण लिखता है कि जिन राजाओं के भुजा-रूपी तरुवनों की छाया में पृथ्वी ने विश्राम किया, समुद्र की करधनी पहने यह धरती निर्भय साँस लेती रही, ऐसे राजाओं का भी धरती से नाम तक मिट गया क्योंकि किसी कवि ने उनके चरित-वर्णन का अनुग्रह नहीं किया।[२] अर्थात् कवि राजा के यश का रक्षक है। यदि राजा ने कवि को आदर नहीं दिया तो उसके इतिहास का, उसके चरित का, उसके यशस्वी कारनामों का कोई उल्लेख करनेवाला नहीं रह जाता और राजा अपने कार्यों के साथ ही मृत्यु के बाद लोकचर्चा से भी मृत्यु प्राप्त कर लेता है। बिल्हण तो इसके भी आगे बढ़ गये और उन्होंने बड़े दर्प से लिखा हे राजाओ ! कवि का तिरस्कार मत करो, नहीं तो तुम्हारे यश का लोप हो जाएगा। देखो इन्द्र, आदि देवों को विजय करनेवाले लंकाधिपति रावण का यश निःशेष हो गया, क्योंकि उसका कोई गायक नहीं रहा। आदिकवि वाल्मीकि ने अपनी काव्य-रचना द्वारा रघुराज

---

१. काव्यमीमांसा, अध्याय १० ।

२. राजतरंगिणी १।४६

भुजवनतरुच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।
स्मृतिमपि नो ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे॥

राम के यश का विश्व में विस्तार कर दिया।[१] इन सभी उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत-काव्य राजाओं के यश का ही आख्यान करता है। राजा के राज्य में कवि राजा के राजजीवन का पूरक है। काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य दण्डी ने भी (जो चौथी शती ई० में हुए) काव्य-रचना की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा कि काव्य-रचना वह आदर्श है जिसमें आदिकाल के राजाओं का यशोबिम्ब सुरक्षित हो गया है और आज उन राजाओं के न रहने पर भी वह उसी प्रकार समुल्लसित है।[२] राजा के द्वारा कवि के आदर और सम्मान की परम्परा ऐसी रूढ़ हुई थी कि इसने जीवन और सृष्टि की मान्यताओं में अन्तःप्रवेश कर लिया। इसी मान्यता की सत्यता प्रमाणित करते हुए शृंगार-तिलक का कवि यह कहता है कि कमल पर बैठे हुए खञ्जन पक्षी को यदि कोई दैव-योग-वश देख ले तो उस पुण्य का प्रभाव यह होता है कि वह कवि का जन्म पाता है या इसी जन्म में कवि हो जाता है। और यदि पुण्य कुछ क्षीण हुआ तो वह विख्यात राजा हो जाता है। अर्थात् पुण्य की प्रथम सार्थकता यही है कि कवि का जीवन मिले, नहीं तो फिर राजा का जीवन मिलेगा। अर्थात् कवि और राजा का संयोग पुण्य के अधिक और न्यून होने से जुड़ा हुआ है।[३] इस प्रकार जब तक कि हिन्दी के क्षेत्र में संत-कवियों का उदय नहीं होता, संस्कृत-कवियों की मान्यताएँ, उनकी राजदरबारी मनोवृत्ति इतिहास का ऐसा पृष्ठ हमारे सामने उपस्थित करती हैं कि हम कहने लगते हैं कि संस्कृत-काव्य-रचना का सारा जीवन राजचरित, राजसभा और राजपरम्परा में अनुस्यूत है। इस मत के समर्थन में संस्कृत नाट्य-क्षेत्र में लिखी गयी नाटिकाएँ जैसे रत्नावली, कर्पूरमञ्जरी आदि, नाटक जैसे मालविकाग्निमित्र आदि इसकी ही पुष्टि करते हैं।

लेकिन क्या यह मान लिया जाय कि संस्कृत-कवियों का काव्य-रचना-संसार राज-भवन की चहारदीवारी तक ही सीमित है? उत्तर में यही कहना पड़ता है

---

१. विक्रमांकदेवचरित १।२६,२७

२. काव्यादर्श १।५

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसंनिधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति॥

३. शृंगारतिलक ५

ये ये खञ्जनमेकमेव कमले पश्यन्ति दैवात् क्वचित्
ते सर्वे कवयो भवन्ति सुतरां विख्यातभूमीभुजः।
त्वद्वक्त्राम्बुजनेत्रखञ्जनद्वयं पश्यन्ति ये ये जनाः
ते ते मन्मथबाणजालविकला मुग्धे! किमित्यद्भुतम्॥

कि कई दृष्टियों से यह सच है। क्योंकि भर्तृहरि जैसा विरक्त कवि अपने वैराग्य-शतक में जब आत्म-चिंतन के मार्ग पर जा रहा है तब उसे यह कुण्ठा उद्वेलित कर रही है कि कवि और विद्वान् राजाओं के चाटुकार बने हुए हैं। उसके इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे उद्गार हैं जो सीधे हृदय से फूटकर वाणी में बोल रहे हैं और साहित्य-रचना में राजाओं के हस्तक्षेप को प्रमाणित करते हैं। भर्तृहरि कहते हैं कि सामने सरस (रसिक) कवि बैठे हैं और पार्श्व की ओर दाक्षिणात्य कवि हैं। पृष्ठ की ओर हावभाव में चामरग्राहिणियाँ कंकण की झनकार कर रही हैं। यदि ऐसा राज-जीवन हो तो संसार के आनन्द में लम्पट बनो, अन्यथा मेरे मन! निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करो।[1] विद्या पहिले योगियों की शान्ति के लिए थी, बाद में विषयी जनों का विलास बन गयी और अब पृथ्वी के राजा-गण जो निरन्तर शास्त्र-विमुख होते जा रहे हैं, यह देखकर विद्वत्ता का प्रतिदिन पतन होता जा रहा है।[2]

किन्तु इस मान्यता और इस परम्परा का अपवाद भी है। इस अपवाद में दोनों प्रकार के कवि आते हैं। एक वे हैं जिन्होंने संस्कृत में ही मुक्तक रचनाएँ की हैं। एक वे हैं जिन्होंने उस समय की लोक-भाषा में लोक-जीवन के भावों को निबद्ध किया है। संस्कृत में मुक्तक रचना करने-वाले कवियों की लम्बी सूची है और उनके मुक्तक कवीन्द्रवचनसमुच्चय, सुभाषितरत्नकोश, सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितावली, सदुक्तिकर्णामृत जैसे संकलनों में आदर के साथ संगृहीत होते रहे हैं। इन कवियों के मुक्तकों का महत्त्व इसलिए है कि इन्होंने अपने काव्य-मुक्तकों में गाँव के ठेठ जीवन, चरवाहा और वनवासियों की संस्कृति, उनके रहन-सहन, भोजन जैसे विषयों को काव्य का रूप दिया है। ऐसे कवियों में प्रमुख कवि हैं—दण्डी, शुभांक, अभिनन्द, योगेश्वर, शतानन्द, डिम्बोक, लक्ष्मीधर वसुकल्प-दत्त, दिवाकर, शिव-स्वामी, प्रवरसेन, उमापतिवर, वल्लण, गदाधर, विद्या, वसन्तदेव। यह तो संस्कृत में मुक्तक लिखनेवालों की बात हुई, आगे हम इनके मुक्तकों की व्याख्या करेंगे जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि इन कवियों के द्वारा काव्य-रचना का उन्मुक्त संसार अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने ऐसे विषयों को

---

१. वैराग्यशतक ६२

२. वैराग्यशतक २८

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये
गता कालेनासौ विषयसुखसिद्धयै विषयिणाम्।
इदानीं तु प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखान्
अहो कष्टं सापि प्रतिदिनमधोऽधः प्रविशति॥

अपने भाव का लक्ष्य बनाया है जो राज-जीवन की परम्परा और राजदरबारी मनोवृत्ति के स्पर्श से दूर हैं।

राजदरबारी मनोवृत्ति की काव्य-रचना का अपवाद उस समय के लोक-भाषा कवियों के काव्य में भलीभाँति स्फुरित हुआ होगा जो सबका-सब आज हमें प्राप्त नहीं है लेकिन उस समय की महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गयी गाथाओं का प्रतिनिधि संकलन गाथा-सप्तशती नाम से आज भी हमारे सामने है। इन गाथाओं में उस युग के लोक-कवियों ने समाज के ठेठ जीवन, ग्रामीण युवक और युवतियों के सहज पेशल मनोभावों एवं पशुओं तक के मनोभावों को ऐसी सरल और मञ्जुल सरणि में अभिव्यक्त किया है जिसकी दूसरी तुलना नहीं है। इतिहासकारों ने ऐसा कहा है कि इस गाथासप्तशती का संकलन पहली-दूसरी शताब्दी ई० में राजा हाल ने किया था। इसकी गाथाएँ कई कवियों की लिखी हुई हैं जिनमें कुछ नाम ये हैं—प्रवरसेन, सर्वसेन, मान, देव, कर्ण, ईशान।

ऊपर कहे गये संस्कृत के मुक्तक कवि और गाथा-सप्तशती के लोक-कवि दोनों की ही परम्पराएँ संस्कृत के महाकाव्यों, कथाओं और नाटकों के रचयिताओं का अपवाद है। इनकी रचनाओं का अध्ययन कर हम प्राचीन भारतीय मनोभाव, संस्कार और जीवन के सम्बन्ध में सही सूचनाएँ प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ हम पहले गाथा-सप्तशती पर चर्चा करेंगे। यद्यपि यह कहा जाता है कि राजा और कवि हाल ने पहली-दूसरी शती ई० में इन गाथाओं के सप्त शतक का संकलन किया, गाथा सप्तशती के अन्त में ७०० संख्या के बाद यह गाथा दी हुई है।

इअ सिरि हालविरइए पाउअकव्वम्मि सत्तसए।
सत्तमसअं समत्तं गाहाणं सहावरमणिज्जं।।

अर्थात् मन को रमणीय लगनेवाला हाल-विरचित गाथा-सप्तशतक का सातवाँ शतक समाप्त हुआ। और आरम्भ में पहले शतक की तीसरी गाथा इस प्रकार है—

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्भि।
हालेण विरइआइं सालंकाराणं गाहाणं।।

अर्थात् कवियों पर अनुग्रह करनेवाले हाल ने उक्ति-वैचित्र्य से युक्त करोड़ गाथाओं में से ये सात सौ गाथाएँ संगृहीत की हैं। हाल कवि की स्थिति और इसमें संगृहीत कवियों की रचनाओं को देखते हुए ऐसा आभास मिलता है कि जब हाल ने इन गाथाओं का संकलन किया था तब सात सौ गाथाएँ नहीं थीं।

यद्यपि हाल ने पहली शती ई० में महाराष्ट्री प्राकृत की इन गाथाओं का संकलन किया तथापि इसमें वाकाटक राज्य-काल के प्रसिद्ध षट्पञ्चाशत कवियों (छप्पण्णय कवि) की गाथाएँ भी सम्मिलित की गयीं होंगी। और समय-समय पर रसिक कवियों ने उत्कृष्ट गाथाओं के मिलाने का क्रम जारी रखा होगा। क्योंकि इसमें जिन कवियों की गाथाएँ ली गयी हैं उनमें प्रवरसेन और सर्वसेन निश्चित रूप से वाकाटक-नरेश हैं। डॉ० वासुदेव विष्णु मिराशी ने वाकाटकों के इतिहास-काल में साहित्य की चर्चा करते हुए षट्पञ्चाशत कवि के प्राकृत काव्य के संकलन किये जाने का उल्लेख किया है जो 'सेतु' या 'छप्पण्णय' नाम से संगृहीत हुआ पर आज वह संकलन प्राप्त नहीं है।[1] यह बहुत सम्भव है कि षट्पञ्चाशत कवियों की प्रतिनिधिभूत गाथाएँ हाल के गाथा-संकलन में ले ली गयी हों। इस प्रकार वाकाटक राज्य-काल का वह प्राकृत संकलन महत्त्वपूर्ण न रह गया हो। ऐसा भी अनुमान है कि राजा हाल ने गाथाओं का जो संकलन किया हो, वाकाटक-राजाओं ने उसमें और भी कवियों को संकलित कर संकलन को षट्पञ्चाशत कवियों का संकलन बना दिया हो। इस प्रकार हाल का किया हुआ गाथा-संकलन वाकाटक राज्य काल में पादलिप्त, सातवाहन और षट्पञ्चाशत कवियों का संकलन बना। उद्योतन सूरि (७७८ ई०) ने 'कुवलयमाला' में इनकी प्रशंसा करते हुए इनको सिंह और स्वयं को हरिण कहा है।[2] सम्भवतः वाकाटक राज्य-काल के बाद दूसरी और गाथाएँ मिलायी गयीं तब से सत्तसई अर्थात् गाथा-सप्तशती का रूप दिया गया।

अब हम गाथा-सप्तशती की काव्य-रचना में विषय-वस्तु की गरिमा को संक्षेप में आकलित कर रहे हैं। इसकी गाथाओं में सौ में अस्सी गाथाएँ शृङ्गार, प्रेम के ललितोद्गार का उत्कृष्ट निदर्शन हैं। इनकी उत्कृष्टता इस बात में है कि इनके भाव ठेठ, सहज और मन की स्वाभाविकता से अत्यन्त ही सजीव हैं। इनमें धर्म और संस्कृति की रूढ़िगत परम्परा का उल्लंघन और तिरस्कार है। और ये सारी गाथाएँ शुद्ध रूप से गाँव, किसान, वनवासी आदि के जीवन के आनन्द का निचोड़ हैं। गाथाओं में अनेक स्थल पर उसके कथन हालिक (हल चलाने-वाला, किसान) हालिकपुत्र या हालिकपुत्री को सम्बोधित कर कहे गये हैं।

अनेक गाथाएँ ऐसी हैं जिनमें प्रेमियों के मिलने के संकेत-स्थानों का निर्देश

---

१. वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, पृष्ठ ८९-९१।

२. पालित्तय-सालाहण-छप्पण्णय-सीह-नायसद्देण।
संखुद्ध-मुद्ध-सारंग उव्व कह ता पयं देमि॥

होता है। यह निर्देश ऐसी काव्य-वाणी में है जिसको शास्त्रीय परिभाषा में तो विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि कहा जायगा पर उसका वास्तविक अर्थ या भावों का स्फुट सौन्दर्य वहाँ व्यक्त होता है जहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि अपना आधार समाप्त कर देती है। जैसे—

उअरि दरदिट्ठथण्णुअणिलुक्कपारावआणं विरुएहिं।
णित्थणइ जाअवेअणं सूलाहिण्णं व देअउलं॥१।६४
(उपरीषद्दृष्टशंकुनिलीनपारावतानां विरुतैः।
निस्तनति जातवेदनं शूलभिन्नमिव देवकुलम्॥)

इस गाथा का शब्दार्थ यह है कि (रात्रि में) मन्दिर के ऊपर ईषत् दिखाई पड़ने वाली कील में विलीन कबूतरों के कूजन से मानो शूल द्वारा आहत मन्दिर ही वेदना में तड़प रहा है।

इस शब्दार्थ का भावार्थ इस प्रकार है। रात्रि का समय है, प्रेमिका ने अपने प्रेमी को मन्दिर पर मिलने का संकेत दिया था। प्रेमी वहाँ पहुँच गया। उसके पहुँचने पर मन्दिर के ऊपर रहने वाले कबूतरों ने किसी की आहट पाकर अपना कूजन शुरू कर दिया। प्रेमिका जो अभी घर के कार्यों में व्यग्र होने से संकेत स्थान पर पहुँच नहीं सकी थी वह कूजन उसे शूल द्वारा आहत हृदय की वेदना के रव में परिणत हो रहा है। गाथा लिखनेवाले कवि ने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह वेदना का रव, जो मन्दिर रो रहा है वह प्रेमी का है या प्रेमिका का है, लेकिन गाथा के शब्द इस वेदना को उसकी वेदना निरूपित कर रहे हैं जो प्रेमिका के न पहुँचने से प्रेमी द्वारा प्रतीक्षा के असह्य होने की वेदना का अनुभव कर रहा है तथा वहीं दूसरी ओर कबूतरों का कूजन सुनकर घर में कार्य-रत प्रेमिका की विवशता भरी वेदना का भी अनुभव कर रहा है। दोनों पक्षों की सहानुभूति जिसमें समाई हुई है, दोनों के हृदय के आनन्द का जो द्रष्टा बनता, वह देव-कुल ही मानो पारावतों के कूजन के रूप में समय की प्रतीक्षा के शूल से आहत हृदय होकर अपनी वेदना में तड़प रहा है।

ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार सहज वस्तु वक्रता के अन्तर्गत प्रस्तुत गाथा की उक्त वस्तु योजना आती है, जिसे हम संभोग और विप्रलम्भ शृङ्गार के बीच उत्कण्ठा की सन्धि के रूप में ग्रहण करेंगे। यह न संभोग शृङ्गार है न विप्रलम्भ शृङ्गार है। किन्तु दोनों के बीच का ऐसा उत्कृष्ट लालित्य है जिस लालित्य की समानता दिन और रात के बीच में आनेवाली सन्ध्या से की जा सकती है। वैसे कहने को

तो काव्यशास्त्रीय अध्ययन में इसकी व्याख्या कहीं न कहीं संगतार्थ कर दी जायगी, पर सच पूछा जाय तो काव्य-वस्तु के इस लालित्य का व्याख्यान हमारे साहित्याचार्यों ने नहीं किया है।

दूसरा उदाहरण देखिए, जिसमें बड़ी सूक्ष्मता से संकेत स्थान का निर्देश किया जा रहा है—

मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ।
मोरो पाउसआले तणग्गलग्गं उअअबिन्दुं ॥४।९४
(मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायतग्रीवः।
मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकबिन्दुम् ॥)

गाथा का अर्थ है कि जब वर्षाकाल में पानी बरसता है तो ऐसे तृण जिनके ऊपर लम्बी नोक होती है उन हरित नोकों पर मोती के समान जलबिन्दु रुका हुआ है और प्यासा मोर अपनी गर्दन लम्बी कर उन तृणों के मुक्ता-सदृश जल-बिन्दुओं को पी रहा है।

कहने को तो यह वर्षाकाल का एक वस्तु-चित्र है लेकिन गाथा के अर्थ का जब हम सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं तो पता चलता है, इसमें रात्रि में मिलने के संकेत-स्थान का निर्देश किया जा रहा है। इसीलिए मोर की चर्चा की गयी। मोर जलबिन्दुओं को पी रहा है। किसी दूसरे पक्षी का भी नाम यहाँ लिया जा सकता था। पर तब बात न बनती। मोर जल-बिन्दुओं को पी रहा है—कहने का अर्थ यह हुआ कि रात्रि में वहाँ कोई देखता नहीं, न किसी की दृष्टि पड़ती है। क्योंकि मोर रात्रि में देखता नहीं, अन्धा हो जाता है। इसलिए मोर शब्द यहाँ रात्र्यन्ध का पर्याय हो गया। जिसका स्फुट अर्थ यह हुआ कि तृण-भूमि पर जो लता कुञ्ज है या तृण (घास) का शाद्वल क्षेत्र है उस ओर रात्रि को कोई जाता नहीं, न किसी की दृष्टि वहाँ पड़ती है। बिल्कुल एकांत है। वहीं तुम मिलना। इस गाथा का सारा लालित्य 'मोरो पाउसआले' (मयूरः प्रावृट्काले) पदों में निहित है। जिसे विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि की परिभाषा में बाँधा नहीं जा सकता। इसमें वाच्यार्थ भी कम चमत्कारी नहीं है।

इसी क्रम में तीसरी गाथा देखिए—

वोडसुणओ विअण्णो, अत्ता मत्ता, पई वि अण्णत्थो।
फलिहं व मोडिअं महिसएण, को] तस्स साहेउ ॥६।४९
(दुष्टशुनको विपन्नः श्वश्रूर्मत्ता पतिरप्यन्यस्थः।
कार्पास्यपि भग्ना महिषकेण कस्तस्य कथयतु ॥)

इस गाथा में नायिका पथिक से कह रही है कि घर की रक्षा के लिए जो कुत्ता पाला गया था, बहुत दुष्ट था, बहुत भूँकता था, वह मर गया। सास को उन्माद रोग है और पति परदेश गया है। भैंसे ने कपास का खेत नष्ट कर दिया है। कोई नहीं है कि इसकी सूचना उस तक पहुँचा दे। इसमें नायिका युवक पथिक से कह रही है कि यह घर ही सबसे अच्छा एकान्त है। कपास का खेत जो गर्मियों में भी हरा-भरा रहता है नष्ट हो चुका, तुम घर में ही मिलो।

एक अन्य गाथा है—

एद्दहमेत्ते गामे ण पडइ भिक्ख त्ति कीस मं भणसि।
धम्मिअ करञ्ज भञ्जअ जं जीअसि तं पि दे बहुअं।।६।५३
(एतावन्मात्रे ग्रामे न पतति भिक्षेति न किमिति मां भणसि।
धार्मिक करञ्जभञ्जक यज्जीवसि तदपि ते बहुकम्।।)

गाथा का अर्थ है कि हे धार्मिक ! तुम मुझसे यह क्यों कहते हो कि इतने बड़े गाँव में भिक्षा नहीं मिलती। करञ्ज की शाखा तोड़कर जो तुम जीवित हो यही बहुत है।

प्रेमिका धार्मिक को सम्बोधन कर यह गाथा अपने प्रेमी को सुना रही है। यह साधु करञ्ज की दातून तोड़ने जाता है और वह करञ्ज हम लोगों का मिलन स्थान है। इस साधु से सावधान रहना चाहिए। अथवा इस गाथा का केवल इतना अर्थ है कि करञ्ज के पेड़ के नीचे आज हम लोग मिलेंगे।

इसी प्रसंग की अन्य गाथा देखिए—

बहुपुप्फभरोणामिअभूमीगअसाह सुणसु विण्णत्ति।
गोलातडविअडकुडंग महुअ सणिअं गलिज्जासु ।।२।३
(बहुपुष्पभरावनामितभूमीगतशाख शृणु विज्ञप्तिम्।
गोदातटविकटनिकुञ्ज-मधूक शनैर्गलिष्यसि।।)

गाथा का अर्थ है कि नायिका अपने पति को सुना कर कह रही है कि हे गोदावरी - तट के विकट निकुञ्ज के मधूक वृक्ष, तुम मेरी यह घोषणा सुन लो अनेक पुष्पों के भार से तुम्हारी शाखाएं धरती तक झुकी हुई हैं। पर धीरे-धीरे ये पुष्प गिर जायेंगे।

भाव यह है कि नायिका अपने पति को उलाहना देकर समझा रही है कि जो तुम मुझे छोड़कर गोदावरी नदी के तट पर मधूक वृक्ष के नीचे प्रेमिकाओं से रमण करने जाते हो उनका वह प्रेम बस जवानी तक ही है। तुम्हारी चिरसंगिनी

तो केवल मैं हूँ। इसी प्रसंग में दूसरी गाथा है, जिसमें प्रेमिका (कुलटा) अपने प्रेमी के अपनी पत्नी के पक्ष में हो जाने पर बहुत दुःखी है। जब वह महुए के फूल बिनने आती थी तब वहीं दोनों का मिलन होता था। अब वह प्रेमी के अभाव में महुए के फूलों को रोते-रोते बीन रही है। जैसे उसके प्रेम की चिता जल गयी हो ये उस चिता की हड्डियाँ हैं—

णिप्पच्छिमाइँ असई दुःखालोआइँ महुअपुप्फाइं।
चीए बन्धुस्स व अट्ठिआईं रुअई समुच्चिणइ॥ २।४
(निष्पश्चिमान्यसती दुःखालोकानि मधूकपुष्पाणि।
चितायां बन्धोरिवास्थीनि रोदिति समुच्चिनोति॥)

अब गाथा-सप्तशती की कतिपय अन्य गाथाएँ उद्धृत की जा रही हैं जिनमें प्रेम की अभिव्यञ्जना का अद्भुत लालित्य है। यह कहा जाता है कि प्रेमी प्रेम में अन्धा होकर साँप को भी रस्सी समझकर उसके सहारे ऊपर चढ़ जाता है। उफनाती नदी में तैर कर अपनी प्रियतमा से मिलने उस पार चला जाता है। प्रेम के इसी अटूट बन्धन की अभिव्यक्ति नायिका नीचे लिखी गाथा में कर रही है—

तस्स अ सोहग्गगुणं अमहिलसरिसं अ साहसं मज्झ।
जाणइ गोलाऊरो वासारत्तोद्धरत्तो अ॥३।३१
(तस्य च सौभाग्यगुणममहिलासदृशं च साहसं मम।
जानाति गोदापूरो वर्षारात्रार्धरात्रश्च॥)

अर्थात् उस प्रेमी का सौभाग्य जबसे उसने मेरे प्रेम का आनन्द लिया तथा उससे मिलने का मेरा दुस्साहस जो महिला के योग्य नहीं है इन बातों के साक्षी दो हैं—वर्षाकाल की आधीरात और उस समय प्रवाहित होनेवाला गोदावरी नदी का प्रचण्ड जल-प्रवाह।

माघ कवि ने कहा है कि जो क्षण क्षण में नवीन लगे वही सौन्दर्य है—**क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।** पर गाथा सप्तशती का कवि इससे भी सूक्ष्म बात कहता है।' वह कह रहा है कि सौन्दर्य वह है जिसको समग्र रूप से देखा न जा सके। आँखें जिस अंग पर पड़े, वहीं लुब्ध होकर गड़ी रह जाय। सौन्दर्य-दर्शन की यह अभिव्यक्ति निम्न गाथा में की गयी है—

जस्स जहँ विअ पढमं तिस्सा अंगम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स ताहिं चेअ ठिआ सव्वंगं केण वि ण दिट्ठं॥३।३४

(यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम्॥)

अर्थात् उस नायिका के जिस अंग पर जिसकी दृष्टि पहले पड़ गयी वह उस अंग को देखता विमुग्ध रह गया। उसके सारे अंगों को कोई अकेला आज तक नहीं देख सका।

परस्पर सौन्दर्य-दर्शन की विमुग्धता का एक अद्भुत वस्तु-चित्र देखिए—कोई युवा साधु भिक्षा-पात्र लेकर गृह-द्वार पर पहुँचा है। उसका मुखमण्डल दर्शनीय है। नायिका जो भिक्षा-दान का पात्र लेकर बाहर आती है तो भिक्षा देने के पहले उसके सौन्दर्य पर रीझ जाती है। नायिका भी दर्शनीय है, साधु उसके नाभिमण्डल की ओर देखता है, काम-रस में डूब जाता है। अपने-अपने दर्शन में दोनों इतने बेसुध हो जाते हैं कि कौवे नायिका के भिक्षा दान-पात्र से और साधु के भिक्षा-पात्र से अन्न चुग कर उड़ रहे हैं, उन्हें इसका पता नहीं—

भिच्छाअरो पेच्छइ णाहिमण्डलं सावि तस्स मुहअन्दं।
तं चटुअं अ करंकं दोह्णं वि काआ विलुम्पन्ति॥२।६२
[भिक्षाचरः प्रेक्षते नाभिमण्डलं सापि तस्य मुखचन्द्रम्।
तच्चटुकं च करङ्कं द्वयोरपि काका विलुम्पन्ति॥]

इसी प्रकार प्रेम-विमुग्ध होने के वर्णन की दूसरी गाथा है। जिसमें एक पथिक प्याउ पर पानी पी रहा है। पानी पिलानेवाली प्रपापालिका उसके सौन्दर्य पर मुग्ध है। पथिक भी उसके सौन्दर्य पर निछावर है। वह अपनी अंगुलियों को छीछलाकर ऊपर आँख लगाये पानी पी रहा है और वह पानी की धार को बहुत पतला करती जा रही है। वह चाहती है कि इसे देर तक पानी पिलाती रहूँ और वह चाहता है कि देर तक पानी पीता रहूँ। दोनों के इस विलम्ब के पीछे सौन्दर्य-दर्शन की अदम्य उत्कण्ठा है—

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पावालिआ वि तह तह धारं तुणइं पि तणुएइ॥२।६१
(उर्ध्वाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनूकरोति॥)

नारी के सौन्दर्य पर काम-मोहित पुरुष की मनोवृत्ति उसकी तुलना स्वर्ग और अमृत से करने लगती है। मन का यह भाव पढ़े-लिखे शिष्ट नागरिकों में

तथा ठेठ लोक-जीवन में प्रायः एक ही समान है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त के मुख से शकुन्तला के सौन्दर्य का निरूपण करते हुए उसकी प्राप्ति पुण्यों के अखण्ड फल के रूप में कही है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिह च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥
(अभि० शा० २।१०)

गाथा-सप्तशती का कवि भी नारी के मोहक सौन्दर्य को स्वर्ग लाभ और अमृत-पान से कम नहीं समझता—

अच्छेरं व णिहिं विअ सग्गे रज्जं व अमअपाणं व।
आसि म्ह तं मुहुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए॥२।२५

[आश्चर्यमिव निधिमिव स्वर्गे राज्यमिवामृतपानमिव।
आसीदस्माकं तन्मुहूर्तं विनिवसनदर्शनं तस्याः॥]

अर्थात् नायिका का दर्शन जब मुझे विवस्त्रावस्था में हुआ तब वह क्षण मेरे लिए जीवन का आश्चर्य, निधि की प्राप्ति, स्वर्ग का राज्य-लाभ और अमृत-पान जैसा महान् आनन्ददायक हुआ।

अभिज्ञानशाकुन्तल के कवि ने इस गाथा से ही इस भाव को ग्रहण किया है और उसे शालीन तथा शिष्ट अर्थबोध में उपस्थित किया है यह उसकी विशेषता है। पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वर्ग का राज्य-लाभ तथा अमृत-पान जैसा मूल्यांकन अभिज्ञानशकुन्तलम् के कवि की वाणी में नहीं है। दूसरी ओर पुण्यों के अखण्ड फल के रूप में शकुन्तला की प्राप्ति का आकलन जैसा ऊँचा शिष्ट-भाव भी गाथा-कवि के पास नहीं है, क्योंकि वह ठेठ व सहज कवि है। पर यह कहने में हमें संकोच नहीं होगा कि यहाँ गाथा-कवि की उक्ति कालिदास की उक्ति से हेय नहीं है। उसी के समान अद्भुत भाव-विधान करती है और जहाँ तक मनोवृत्ति के निरूपण का प्रश्न है वहाँ मन की सत्य प्रकृति का निबन्धन गाथा का कवि ही कर रहा है, कालिदास नहीं। तथा यह सत्य है कि कालिदास ने यह भाव गाथा के कवि से लिया है।

एक दूसरे स्थल पर जहाँ अभिज्ञानशाकुन्तल के कवि ने गाथा-सप्तशती

के कवि के भाव को ग्रहण तो किया है पर वहाँ उसकी उत्कृष्टता को सँभाल नहीं पाया है अतः उसकी उक्ति हेय हो गयी है। उदाहरण यह है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः।
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥

यहाँ पर मानवेतर पशु की चेतना और उसके मन के सौहार्द से स्फुरित होने वाली निर्भयता की अभिव्यक्ति की गयी है। अर्थात् काले हरिण की प्रिया उसकी हरिणी अपनी बाँयीं आँख को अपने प्रिय हरिण की नुकीली सींग से खुजला रही है। हरिणी की आँख की पलक बड़ी कोमल होती है और सींग बड़ा नुकीला। लेकिन चूंकि वह सींग अपने प्रियतम का है इसलिए उससे आँख को कोई नुकसान हो नहीं सकता यह विश्वास है। साथ ही यह बात भी है कि प्रियतम हरिण अपने सींग से हरिणी की आँख खुजलाये यह हरिणी का सौभाग्य है।

कालिदास की इस उक्ति की प्रशंसा में अभिज्ञानशाकुन्तल के आलोचकों ने कलम तोड़ दी है। उन्होंने लिखा है कि कालिदास ने मानवेतर पशु-चेतना की कितनी सूक्ष्म पहचान की है, यह उक्ति इसका उदाहरण है। अब तक इसके लिए कालिदास की बड़ी प्रशंसा हो चुकी है पर सत्य यह है कि कालिदास ने गाथा-सप्तशती से इस उक्ति की चोरी की है। चोरी करने के कारण उसे ठीक से व्यक्त नहीं कर सके और उसे अपनी मौलिक उक्ति की तरह व्यक्त करने के व्यसन में भावों का अवमूल्यन कर दिया है।

कालिदास की इस उक्ति का मूल प्राकृत कवि की यह गाथा है—

पाअडिअं सोहग्गं तम्बाए उअह गोट्ठमज्झम्मि।
दुट्ठवसहस्स सिङ्गे अक्खिउडं कण्डुअन्तीए॥५।६०
[प्रकटितं सौभाग्यं गवा पश्यत गोष्ठमध्ये।
दुष्टवृषभस्य शृङ्गे अक्षिपुटं कण्डूयन्त्या॥]

अर्थात् गोष्ठ के बीच दुष्ट बैल के सींग में गाय अपनी आँख की पलक को खुजलाती हुई यह प्रकट कर रही है कि वह उस बैल की कितनी प्रिय है या उसको उसने कितना वश में कर रखा है।

अब दोनों उक्तियों की तुलना कीजिए कि कौन अधिक श्रेष्ठ है। मन की काम-प्रकृति में सरल हरिण को वश में कर लेना और उसके सींग से आँख खुजला

लेना साधारण बात है। किन्तु दुष्ट बैल को वश में कर और उसके सींग से सरल भाव में आँख को रगड़ना विशिष्ट प्रियता का सूचक है। गाथा के कवि ने यहाँ पर मन की काम-प्रकृति की सुकुमार नाड़ी को पकड़ रखा है। यह उक्ति मूल उक्ति है और कालिदास द्वारा अनुवाद किये जाने पर भी इसकी श्रेष्ठता ज्यों की त्यों सुरक्षित है।

जहाँ सौन्दर्य और कामवृत्ति का परस्पर संयोग होता है वहाँ मन किसी भी प्रकार के स्पर्श से आनन्द में उद्वेलित हो उठता है। ऐसे कई संयोगों और विभिन्न स्पर्शों की उक्तियाँ गाथा-सप्तशती में निबद्ध हैं, जो मन के व्यापार का सूक्ष्म दर्शन प्रस्तुत करती हैं। एक उक्ति देखिए—

फग्गुच्छणणिद्दोसं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णं।
थणअलसमूहपलोट्टन्तसेअधोअं किणो धुअसि॥४।६९
[फाल्गुनोत्सवनिर्दोषं केनापि कर्दमप्रसाधनं दत्तम्।
स्तनकलशमुखप्रलुठत्स्वेदधौतं किमिति धावयसि॥]

अर्थात् फाल्गुन के उत्सव में कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के स्तन पर कीचड़ लगा देता है। उसके स्पर्श से नायिका को जिस आनन्द और रोमांच की प्राप्ति होती है पुलक के उस आनन्द से स्तन के मुख से पसीना छूट पड़ता है और उस स्वेद से कीचड़ कुछ-कुछ धुल उठता है तभी उस नायिका की कोई समवयस्का उसे देख लेती है। उससे लज्जावश अब वह उस कीचड़ को पानी से धोने जा रही है, इस पर वह समवयस्का सखी उस पर व्यंग्य कर रही है कि अरे, किसने निर्दोष ही तुम्हारे स्तन पर कीचड़ का श्रृंगार कर दिया और अब तो स्तन के मुख से छूटने वाले स्वेद ने उसे धो ही दिया है तब उसे तुम क्यों धोने जा रही हो? पूरा का पूरा वाक्य व्यंग्य और ध्वनि का कितना सुन्दर उदाहरण है, इसको समझिए। 'णिद्दोसं' (निर्दोष) में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि; 'कद्दम पसाहणं (कर्दम प्रसाधनं) में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि एवम् 'थण अलसमूह पलोट्टन्त-सेअधोअं' (स्तन कलशमुख प्रलुठत्स्वेद धौतम्) में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि विद्य-मान है। यह उक्ति इन ध्वनियों के चमत्कार से मन को भाव नदी में तरंगित कर रही है। अब ध्वनि की अभिव्यक्तियों का आनन्द लीजिए। सहेली व्यंग्य कर रही है कि किसी ने निर्दोष ही कीचड़ लगा दिया। इसमें व्यंग्य है कि कीचड़ निर्दोष नहीं सदोष लगा है यतः तुम्हारे मन में उसके प्रति प्रेम-विकार न होता तो कीचड़ क्यों लगाता। उसने कीचड़ लगाने को कर्दम-प्रसाधन कहा है, प्रसाधन का अर्थ है साज-सज्जा। अर्थात् यह कीचड़ नहीं है प्रिय के द्वारा किया हुआ श्रृङ्गार है जो

सबको कहाँ उपलब्ध होता है। स्तन के मुख का स्वेद कीचड़ को धो रहा है, इसका अर्थ है कि तुम इस कीचड़ के स्पर्श के आनन्द से आनन्दित हो। तुम मुझे देखकर इसे धोने का नाटक रच रही हो, धोना इसे कहाँ चाहती हो।

इस उक्ति में तो प्रत्यक्ष स्पर्श की बात कही गयी। अब दूसरी उक्ति देखिए जिसमें पदचिह्न के स्पर्श मात्र से नायक आनन्द से पुलकित हो रहा है। यह भी व्यंग्य उक्ति में ही है—

जइ चिक्खल्लभउप्पअपअमिणमलसाइ तुह पए दिण्णं।
ता सुहअ कण्टइज्जन्तमंगमेह्नि किणो वहसि॥१।६७
[यदि कर्दमभयोत्प्लुतपदमिदमलसया तव पदे दत्तम्।
तत्सुभगकण्टकितमङ्गमिदानीं किमिति वहसि॥]

अर्थात् युवक कीचड़ को लाँघने के लिए जैसे-जैसे दूर-दूर अपने पैर रख रहा है प्रेमिका भी उसी के पदचिह्नों पर पैर रखती चली जा रही है। नायक अपने पदचिह्नों पर अपनी उस प्रिया को पैर रखते देख आनन्द से रोमाञ्चित हो रहा है। उसके पुलकित होने से यह भेद खुल गया कि उसके पद चिह्नों पर पैर रखने वाली तरुणी उससे प्रेम करती है। दूसरी तरुणी उस तरुणी को सुनाकर यह व्यंग्य नायक से कर रही है कि वह तो कीचड़ से बचने के लिए छलांग मार कर तुम्हारे पदचिह्नों पर पैर रख रही है पर तुम पुलकित क्यों हो रहे हो। (तरुणी के ऊपर व्यंग्य है कि तरुण के प्रति तुम्हारा छिपा हुआ प्रेम प्रकट हो गया)

गाथा-सप्तशती में नीति और जीवन के अनुभव की उक्तियाँ भी हैं। नीति और अनुभव की यह उक्ति देखिए—

अहव गुणव्विअ लहुवा अहवा गुण अणुओ ण सो लोओ।
अहव ह्मि णिग्गुणा वा बहुगुणवन्तो जणो तस्य॥३।३
[अथवा गुणा एव लघवोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः।
अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवाञ्जनस्तस्य॥]

अर्थात् अपने प्रिय को नायिका दूसरे के प्रेम में आकृष्ट देखकर दुःख के साथ सोच रही है कि यह मेरे गुणों का अनादर कर रहा है अथवा यह हो सकता है कि यह गुणों को पहचानता न हो या यह बात हो सकती है कि मुझमें कोई गुण ही न हो और जिसके प्रेम के प्रति आकृष्ट है वह अधिक गुणवती होगी।

नीति की दूसरी गाथा देखिए—

पत्तो छणो ण सोहइ अइप्पहा एव्व पुण्णिमाअन्दो।
अन्तविरसो व्व कामो असंपआणो अपरिओसो॥१।६८
[प्राप्तः क्षणो न शोभते अतिप्रभात इव पूर्णिमाचन्द्रः।
अन्तविरस इव कामोऽसम्प्रदानश्च परितोषः॥]

अर्थात् वह प्रेम जिसमें कुछ क्षमता न हो वैसे ही व्यर्थ है जैसे प्रभात का पूर्णिमा का चन्द्रमा और रति के अन्त में विरस काम-भाव।

पिता के मन में अपनी परम्परा की रक्षा के लिए कितनी अधिक चिन्ता होती है और वह पुत्र को इसके प्रति कितना सजग देखना चाहता है यह भाव निम्न गाथा में है। गाँव का मुखिया जो मृत्यु के निकट है अपने पुत्र से कह रहा है कि पुत्र ऐसा काम करना जिससे मेरा नाम लेने पर तुम्हें कोई लज्जित न करे—

अप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पअत्तेण।
मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेज्जासु॥७।३२
(शिक्षयति म्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन।
मम नाम्ना यथा त्वं न लज्जसे तथा करिष्यसि॥)

सज्जन व्यक्ति की प्रकृति के सम्बन्ध में एक उक्ति देखिए, जिसमें कवि कह रहा है कि सज्जन को अपने अपमान से उतना क्षोभ नहीं होता, जितना दुःख उसे उस समय होता है जब वह वैभव के अभाव में अपने मित्र का प्रत्युपकार नहीं कर पाता—

अवमाणिओ वि ण तहा दुमिज्जइ सज्जणो विहवहीणो।
पडिकाऊं असमत्थो माणिज्जन्तो जह परेण॥४।२०
[अवमानितोऽपि न तथा दूयते सज्जनो विभवहीनः।
प्रतिकर्त्तुमसमर्थो मान्यमानो यथा परेण॥]

वानरों की प्रकृति का रोचक वर्णन देखिए—

ओसरइ धुणइ साहं खोक्खामुहलो पुणो समुल्लिहइ।
जम्बूफलं ण गेह्णइ भमरो त्ति कई पढम डक्को॥६।३१
[अपसरति धुनोति शाखां खोक्खामुखरः पुनः समुल्लिखति।
जम्बूफलं न गृह्णाति भ्रमर इति कपिः प्रथमदष्टः॥]

जामुन के फल पके हैं वानर ने उसे तोड़ कर खाना चाहा, पर जामुन पर बैठे हुए भौंरे ने वानर को काट लिया। इससे वह समझ बैठा कि यह जामुन

काटनेवाला फल है, इससे वह जोर से खो खो कर रहा है, डाल को हिला रहा है, नख से खुरच भी रहा है पर जामुन के फलों को छू नहीं रहा है।

'याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा' की उक्ति का प्रकारान्तर भाववेशल रूप देखिए—

हिअअण्णएहिं समअ असमत्ताइं पि जह सुहावन्ति।
कज्जाइं मणे ण तहा इअरेहिं समाविआइं पि॥१।६१
[हृदयज्ञैः सममसमाप्तान्यपि यथा सुखयन्ति।
कार्याणि मन्ये न तथा इतरैः समापितान्यपि॥]

अर्थात् मनोज्ञ लोगों के साथ कार्य का निष्फल होना भी आनन्ददायक होता है, लेकिन हृदयहीन पुरुषों के साथ कार्य की चरितार्थता भी सुखदायक नहीं होती।

गाथा-सप्तशती में विन्ध्याचल पर्वत का नाम कई बार आया है। इससे यह प्रतीत होता है कि गाथा-सप्तशती की सारी गाथाएँ विन्ध्याचल के परिसर में लिखी गयी हैं। एक गाथा में विरहिणी को समझाया जा रहा है कि विन्ध्याचल पर्वत पर वर्षा-काल की मेघ माला के समान जो कुछ भी दिखाई पड़ रहा है वह ग्रीष्म-काल की दावाग्नि से झुलसे हुए काले पड़े विन्ध्य पर्वत के शिखर हैं, अभी तुम धैर्य रखो—

गिह्मे दवग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विज्झसिहराइं।
आससु पउत्थवइए ण होन्ति णव पाउसब्भाइं॥१।७०
[ग्रीष्मे दवाग्निमषीमलिनितानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि।
आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि॥]

विन्ध्यपर्वत के साथ ही गाथा-सप्तशती के कवियों ने रेवा (नर्मदा) नदी को बहुत स्मरण किया है। पठारों के बीच बहनेवाली नदी, जिसके किनारे वेतस्, मधूक एवं अन्य वृक्ष-लताओं के अनेक मनोज्ञ कुञ्ज हैं, चैत्र के महीने में जो मालती आदि अनेक फूलों के सौरभ से भर उठते हैं, प्राचीनकाल से अपनी रमणीयता के कारण कामासक्त युवा मनों को आकृष्ट करते रहे हैं। नर्मदा के तट के इन कुञ्जों की यह विशेषता है कि वे मिलन के लिए एकान्त स्थल होते हैं और उनका परिसर काम-भाव को अभितृप्त करनेवाला होता है इसीलिए गाथा-सप्तशती का कवि कह रहा है कि सभी नदियों के किनारे वनों की कतार होती है, शीतल जल होता है और पक्षी चहकते रहते हैं, किन्तु रेवा नदी का आकर्षण उसके गुणों के कारण कुछ और ही है—

आम्र बहला वणाली मुहला जलरंकुणो जलं सिसिरं।
अण्णणईणं वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि॥ ६।७८
[सत्यं बहला वनाली मुखरा जलरङ्कुवो जलं शिशिरम्।
अन्यनदीनामपि रेवायास्तथाप्यन्ये गुणाः केऽपि॥]

एक दूसरी गाथा में रेवा नदी के किनारे मेघ जैसे श्यामल वेतस कुञ्जों की प्रशंसा की गयी है जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पाती—

अकअण्णुअ घणवण्णंघणपण्णन्तरिअतरणिअरणिअरं।
जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो भरसि॥ ६।९९
[अकृतज्ञ घनवर्णं घनपर्णन्तरिततरणिकरनिकरम्।
यदि रे रे वानीरं रेवानीरमपि न स्मरसि॥]

गाथा-सप्तशती के कवियों ने इस परिसर के सामाजिक जीवन के कुछ पक्षों को भी उद्घाटित किया है। पर उनके ऐसे कथन भी काम-भाव की रमणीय उक्तियों से आप्लावित होकर उद्वेलित होते हैं। एक दो उदाहरणों को देखिए। विन्ध्यपर्वत के वनों में व्याध निवास करते हैं उनकी जीविका है आखेट में प्राप्त पशुओं के चर्म, चर्बी आदि बेचकर अपने जीवन का निर्वाह करना। हरिण के आखेट के लिए व्याध को अपने शरीर में स्फूर्तिवत्ता की अपेक्षा होती है, पर युवा व्याध को उसकी युवा पत्नी ने अपने आलिंगन में इतना आबद्ध कर रखा है कि उसके शरीर की स्फूर्ति जाती रही है और वह अब चितकबरे हरिण का शिकार नहीं करता। पत्नी को अपने पति की इस स्थिति पर बड़ा गर्व है, क्योंकि वह उसके प्रेम-भाव में आबद्ध है। चितकबरे हरिण के चर्म के लिए व्यापारी से व्याध की पत्नी कहती है कि दूसरे व्याधों के यहाँ पृषत-चर्म की खोज कर लीजिए। हमारा व्याध जवान हरिणों पर धनुष नहीं चलाता।

जंगल में रहनेवाली आदिवासी जातियाँ जो खेती पर अपना जीवन बसर करती है आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी होती हैं। वे अपनी खेती के लिए, उनके पास जो कुछ अर्थ-साधन होता है, माघ महीने में बैल खरीद लेते हैं, क्योंकि माघ में बैल सस्ते मिलते हैं। वे माघ की ठण्डी रात विना वस्त्र के व्यतीत करते हैं। उधर उनकी तरुणी स्त्रियाँ अपने कामाभिनिविष्ट आलिंगन से उनकी शीतकाल की रात्रियों को सुखद बना देती हैं—

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पाइडिं वइल्लेण।
णिद्धूममुम्मुरव्विअ सामलींअ थणो पडिच्छन्तो॥ ३।३८

[विक्रीणीते माघमासे पामरः प्रावरणं बलीवर्देन।
निर्धूममुर्मुरनिभौ श्यामल्याः स्तनौ पश्यन्॥]

अर्थात् माघ के महीने में पामर जन (वनवासी) कपड़े के लिए जो धन होता है उससे बैल खरीद लेता है। और माघ की ठण्डी रातों की चिन्ता अपनी श्यामा पत्नी के उन स्तनों को देखते हुए नहीं करता, जो धान की भूसी की निर्धूम आग के समान ऊपर से धूसरित और भीतर लालिमा लिए ऊपर को उठ रहे होते हैं। (वह सोचता है कि माघ की ठण्डी रातें तो प्रिया के वक्ष का आलिंगन कर बिता दूंगा। बैल आजकल सस्ते हैं खरीद लिया जाय, वस्त्र की जरूरत नहीं है।)

गाथा-सप्तशती के कवियों ने अपनी काव्य-रचना की क्षमता का सही परिचय दिया है। वे जहाँ अपना काव्य लिख रहे हैं वहाँ के देश और समाज से और भूगोल से भलीभाँति परिचित हैं। वे नदियों के तट की विशेषताओं को जानते हैं। मनुष्य तो मनुष्य पशुओं के भाव से भी परिचित हैं। ऐसे कवि ही देश का सच्चा साहित्य लिखते हैं। जिसमें समाज को संजीवनी मिल सकती है। गाथा-सप्तशती की किसी भी गाथा में राजा की स्तुति या खुशामद नहीं है। गाँव के मुखिया और उसके पुत्र की चर्चा अनेक बार आती है और वह चर्चा सामान्य और नीतिमान नागरिक की दृष्टि से है, क्योंकि कवियों के लिए वह समाज के सामान्य साथी की भाँति हैं।

गाथा-सप्तशती के कवियों की भाँति ही सूक्ति-संग्रहों में संकलित शताधिक मुक्तक कवि अपने मञ्जुल मुक्तकों में गाँव, वन, नदी, पर्वत, सेवार, ग्राम्यजनों का प्रेम-विलास, दाम्पत्य-सुख आदि विविध वस्तु-पक्षों को चारुता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। उनमें काव्य का लालित्य तो है ही, सहजता और सचाई का भी अद्‌भुत सम्मिश्रण है, जो काव्य के लालित्य को अत्यधिक मनोज्ञ बना देता है। इसमें सम्पूर्ण देश के प्रान्तों की स्त्रियों की प्रकृति, प्रत्येक ऋतु में होनेवाली फसलों के सौन्दर्य का चित्र, ग्राम्य जीवन के कुछ अनोखे पक्षों का चित्रण इन मुक्तकों को एक नवीनता से ओत-प्रोत किए हुए है, जो संस्कृत महाकाव्यों में कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी। आज परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, हमारे वन और गाँवों में वे दृश्य नहीं दिखाई पड़ सकते। इस दृष्टि से भी उन मुक्तकों में पुराकाल का देश-दर्शन सुरक्षित है, क्या यह कम महत्त्व की बात है? आज जो यथार्थवादी, साम्यवादी अथवा समाजवादी रचनाकार अपने को मानते हैं उन्होंने भी अपने देश के वनों और गाँवों को इस प्रकार न देखा होगा जैसे इन मुक्तक कवियों ने देखा है।

यहाँ उदाहरण-स्वरूप ऐसे कुछ मुक्तक प्रस्तुत किए जाते हैं। नीचे के मुक्तक में ककड़ी के खेत में मचान बना कर ऊपर वनवासी की तरुणी अपने प्रिय के साथ किस प्रकार आनन्दमग्न रात बिता रही है और ककड़ी के खेत की शृगालों से रखवाली भी कर रही है इसका यथार्थ वर्णन सुनिए—

मञ्चे रोमाञ्चिताङ्गी रतिमृदिततनोः कर्कटीवाटिकायां
कान्तस्याङ्के प्रमोदादुभयभुजपरिष्वक्तकण्ठे निलीना।
पादेन प्रेङ्खयन्ती मुखरयति मुहुः पामरी फेरवाणां
रात्रावुत्रासहेतोर्वृतिशिखरलतालम्बिनीं कम्बुमालाम्॥

(विद्यायाः)

सावन-भादों की रात्रि में ककड़ी के खेत में वनवासी अपनी तरुणी के साथ मचान पर गाढ़ आलिंगन में आबद्ध खेत की रखवाली कर रहा है। रति के अवसान पर वह शिथिल शरीर है, उसकी प्रिया अपने पुलकित शरीर से आनन्द में अपनी दोनों भुजाओं से उसे आलिंगन में बाँधे है छोड़ना नहीं चाहती, अतः शृगालों को भगाने के लिए बाड़ के ऊपर लता में पिरोकर लटकती कम्बुमाला (सीपियों या शंखों की माला) को पैर से आघात कर बजा रही है।

हेमन्त की अत्यन्त ठंडी रात्रि में यव के खेत की रखवाली करते किसान तरुण-तरुणी-युगल के आनन्द का एक दूसरा चित्र देखिए, जिससे उस युग में किसानों की जीवन-स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है—

लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नव कलमपलालस्रस्तरे सोपधाने।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
स्तनकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः॥

(भवभूतेः)

छोटा-सा फूस का कुटीर है, जो जौ के खेत के कोने में स्थित है, उसमें धान के नये पुआल का बिछौना और उपधान बनाया गया है जिसमें किसान अपनी तरुणी के साथ आनन्दपूर्वक सोया है। किसान-तरुणी के स्तन-कलश से जो ऊष्मा फैल रही है, हेमन्त की ठंडी रात का तुषार उस ऊष्मा के ऊपर ही रेखाबद्ध होकर समीप पहुँच कर भी उस दम्पत्ति को नहीं छूता, दूर ही रह जाता है।

हेमन्त के दिन हैं, वनवासी किसान अपने धान के खेतों की कटाई कर रहे

हैं, इतने में खरहे (शशक) का जोड़ा दिखायी पड़ गया, शशक के आखेट के लिए उनकी आतुरता का यह दृश्य देखिए—

> क्षेत्रोपान्तपलायमानशशकद्वन्द्वं निरीक्ष्यापरा-
> नाहूयातिरसेन कर्षकजनानारब्धकोलाहलाः।
> हस्तावापितदात्ररज्जुलगुडैर्वृद्धैरवृद्धैः सह
> त्यक्त्वा शालिचिकर्षितामित इतो धावन्त्यमी पामराः।
>
> (कस्यचित्)

जड़हन धान काटा जा रहा है। अब फसल नहीं रहेगी, इस भय से खेत में निवास करता शश का जोड़ा किसी प्रकार छिपता हुआ, खेत के कोने से भाग चला, उसको भागता देखकर वनवासियों ने उसके आखेट में आनन्द लेते हुए दूसरे किसानों को बुला कर कोलाहल शुरू कर दिया। हाथ में हँसिया, रस्सी, लाठी लिए हुए धान की कटाई छोड़ कर जवान-वृद्ध एक साथ इधर-उधर तेजी से दौड़ रहे हैं।

शिशिर ऋतु की शोभा और उसके आनन्द के प्रसंग को देखिए। कवि शुभाङ्ग की उक्ति में गाँव तथा गाँव के सेवार में शिशिर ऋतु की बढ़ी हुई शोभा अभिव्यक्त हो रही है—

> माषीणं मुषितं यवेषु यवसश्यामच्छविः शीर्यते
> ग्रामान्ताश्च मधूकधूसरभुवः स्मेरं यवानीवनम्।
> पुष्पाढ्याः शतपुष्पिकाः फलभृतः सिद्धयन्ति सिद्धार्थकाः
> स्निग्धाः वास्तुकवास्तवः स्तवकितस्तम्बा च कुस्तुम्बरी॥
>
> (शुभाङ्गस्य)

शिशिर ऋतु है, अलसी पक गयी है और उसके पौधे यव (जौ) के खेत से उखाड़ लिये गये हैं। हरे-भरे चरागाहों की हरियाली में पीलापन आता जा रहा है। गाँव के सेंवार की भूमि महुए के पतझड़ के पत्तों से भर गयी है। अजवाइन के खेत हरियाली में उमग रहे हैं। गुलाब के पौधे फूलों से भर उठे हैं। फलियों से लदी सरसों पक रही है। बथुआ (शाक) की क्यारियाँ बड़ी स्निग्ध लग रही हैं। धनिया का स्तम्ब (तना) फूलों के स्तवक से चारों ओर भरा-पूरा सुशोभित है।

शिशिर ऋतु में बालकों को बेर खाने का आनन्द मिल रहा है तथा ईख के बोने का समय आ गया है, उसके पोर की गाँठें अँखुओं से भर उठी हैं अर्थात् अब ईख

उतनी ही शेष है जितना बोना है, पर अल्पावशिष्ट ईख का रस हाथ से ही यन्त्र चलाकर पिया जा रहा है—

सिद्धार्थाः फलसूचिबन्धगुरुभिर्लोलन्त्यमी पल्लवै-
रुच्छिन्दन्त्यध एव बन्धुरतया कोलीफलान्यर्भकाः।
पाकप्रश्लथपत्रकोषदलन - व्यक्ताङ्कुरग्रन्थयो
निष्ठीवन्त्यपि हस्तयन्त्रकलिताः पुण्ड्रेक्षुयष्ट्यो रसम्॥

(वाचस्पतेः)

शिशिर ऋतु है—सफेद सरसों के पौधे फलियों के गुच्छ-भार से बोझिल पत्तों में चंचल हो रहे हैं। ऊँची-नीची जमीन पर फैले झरबैरी (बेर) के फलों को छोटे बालक खाने के लालच में उच्छिन्न कर रहे हैं। पुण्ड्र ईख का तना भलीभाँति पक गया है उसके पोर के अंकुर तने को आच्छादित किये पत्तों को तोड़कर ऊपर निकल आये हैं, (सम्भवतः ईख के ये पौधे अब बोने के लिए शेष रह गये हैं) हाथ से यन्त्र चलाकर भी इनका रस पीने भर के लिए निकल आता है।

सरसों एक साथ नहीं पकती, पहले जो फूल आते हैं उनमें फलियाँ पहले लगती हैं, बाद के आए फूलों में बाद में। फलियाँ निकलने लगती हैं और फूल विच्छिन्न होकर गिरने लगते हैं, तदनन्तर पकने का क्रम शुरू होता है। नीचे की फलियाँ पक कर कपिश (पिंगल) वर्ण होने लगती है तब तक ऊपर की फलियाँ हरी ही दिखती हैं। इस प्रकार यथाक्रम फूलों, फलियों तथा पकने की पिंगलता का आगमन नीचे से ऊपर की ओर दर्शनीय होता है, कवि लक्ष्मीधर की यह सूक्ति देखिए—

सिद्धार्थयष्टिषु यथोदयहीयमान-
सन्तानबद्धफलसूचि - परम्परासु ।
विच्छिद्यमानकुसुमासु जनिक्रमेण
पाकक्रमः कपिशिमानमुपादधाति॥

(लक्ष्मीधरस्य)

सरसों के पीले फूलों के सौन्दर्य पर आबद्ध ये सूक्तिकवि इसके वर्णन में बहुत अनुरक्त दिखायी पड़ते हैं।

वर्षाकाल आने पर दो प्राणिवर्गों का सुख बहुत बढ़ जाता है—भैंस और बगुलों का, तथा दूसरे पक्षी, जैसे कबूतर अन्न के लिए तरस जाते हैं। इन सुखी तथा दुःखी प्राणियों के जीवन की गतिविधि देखिए। कवि योगेश्वर की सूक्ति है—

कासं कूले नदीनामनुगिरिमहिषीयूथनीलोपकण्ठे
गाहन्ते शष्पराजीरभिनवशलभग्रासलोला बलाकाः।
अन्तर्विन्यस्तवीरुत्तृणमयपुरुषत्रासविघ्नं कथञ्चित्
कापोतं कोद्रवाणां कवलयति कणान् क्षेत्रकोणैकदेशे।

(योगेश्वरस्य)

यह वर्षाकाल है—पर्वत के किनारे (समानान्तर) पहाड़ी नदियाँ बह रही हैं, वहाँ घास चरते महिषियों (भैंस) के झुंड नदियों की तटभूमि को श्यामायमान किये हैं, उस नीले तटप्रान्त में बगुलों के समूह भी वर्षाकाल में उत्पन्न नये-नये कीड़ों को खाने के लोभ में चंचल होकर घास की कतारों का मनचाहा आलोडन कर रहे हैं। दूसरी ओर किसान ने खेत में कोदों के बीज छींटे (बो दिये) हैं, उन बीजों को पक्षी न चुग लें इसलिए लताओं तथा घासों से पुरुषाकार धोख बनाकर खेत के बीच खड़ा कर दिया है। कबूतरों का झुंड उस धोख से डरता-डरता भूख से व्याकुल किसी प्रकार खेत के कोण भाग में कोदों के बीजों को कवलित कर रहा है। (संसार में दोनों की भिन्न प्रकृतियाँ हैं एक तो सीधे जीवों को भक्षण कर रहा है, दूसरा झूठी आकृति से भी डर रहा है।)

कवि योगेश्वर ने गाय के चरवाहा कृष्ण का वर्णन गाँव के सहज चरवाहे के रूप में किया है जो गाँव के बालकों के प्रमोद और उनके चरवाहा-जीवन की एतद्देशीय संस्कृति है—

देवस्त्वामेक-जङ्घावलयितलगुडो मूर्ध्नि विन्यस्तबाहु-
र्गायन् गोयुद्धगीतीरुपरचितशिरःशेखरः प्रग्रहेण।
दर्पन्स्फूर्जन्महोक्षद्वय - समररसाबद्धदीर्घानुबन्धः
क्रीडागोपालमूर्तिर्मुररिपुरवतादात्तगोरक्षलीलः ॥

(योगेश्वरस्य)

अर्थात् देवकृष्ण जो गाय के चरवाहा का रूप खिलवाड़ में धारण किये हैं तुम्हारी रक्षा करें। चरवाहा कृष्ण अपनी एक जाँघ अपनी लाठी में लपेटकर उत्साह में खड़े हैं, गायों को बाँधने की रस्सी शिर पर लपेटकर मानो उष्णीष बना रखा है, गाने की मुद्रा में एक हाथ शिर पर रखे हैं, तथा दो बैलों की जो लड़ाई हो रही है उसे उत्साहित करने के लिए गो का युद्धगीत गा रहे हैं। दर्प से फुफकारते दोनों बैलों का युद्ध अपने समर-रस में उनको देर से आकृष्ट किये है।

इन मुक्तक-कवियों की सूक्तियों से पता चलता है कि विन्ध्य-पर्वत तथा मध्यदेश के जंगली परिसर से घिरे इन गाँवों में वेश्याओं के वर्ग भी निवास करते

थे। चन्द्रचन्द्र कवि ने इस ग्राम्य (अ-नागर) वेश्या के प्राकृतिक एवं प्रकृति से सँवारे सौन्दर्य का वर्णन किया है, जिस सौन्दर्य को देखकर जानेवाले पथिक यात्रा के प्रति मन्थर हो जाते हैं—

भाले कज्जलबिन्दुरिन्दुकिरणस्पर्धी मृणालाङ्कुरो
दोर्वल्लीषु शलाटुफेनिलफलोत्तंसश्च कर्णातिथिः।
धम्मिल्लस्तिलपल्लवाभिषवणस्निग्धः स्वभावादयं
पान्थान्मन्थरयत्यनागरवधूवर्गस्य वेशग्रहः॥

(चन्द्रचन्द्रस्य)

ग्राम्य (अनागर) वेश्या तरुणियों ने भाल में काजल की बिन्दी लगायी है, कमल-फूल के नाल दण्ड के अंकुर को, जो चन्द्रमा की किरण-सा शुभ्र चमक रहा है भुजा-रूपी लता में कंकण की तरह पहन रखा है। कान में अनपके (रीठा या वनबेर के) फल को कुण्डल (झुमका) बनाकर सजाया है। उनके केश-धम्मिल्ल तिल के पत्तों को कूटकर उससे धोये जाने के कारण अत्यन्त चमकदार हैं, यह संक्षिप्त किन्तु प्राकृतिक श्रृंगार अपने आकर्षण में बटोहियों को अपनी यात्रा के प्रति मन्थर कर देता है।

मुक्तक कवियों के इन वर्णनों को पढ़कर यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि भारतीय लोक-जीवन के ठेठ पक्ष को उजागर करनेवाला ऐसा मुक्तक-साहित्य कितना ही लिखा गया होगा। किन्तु राजसभा ने महाकाव्य परम्परा तथा नाट्य रंगमंच के स्वागत में ऐसी काव्य-परम्परा को पर्याप्त रक्षण नहीं प्रदान किया और आज उसका प्रचुर भाग लुप्त है। गाथा-सप्तशती की गाथाएँ और ये मुक्तक एक ही स्तर तथा भाव-दृष्टि में हमारे प्राचीन भारत के गाँव, किसान, वन, पर्वत, नदी, प्रकृति एवं लोक-पक्ष के अन्यान्य वस्तुचित्रों को प्रस्तुत करते हैं जो अत्यन्त विविध हैं। आचार्य दण्डी ने काव्य-वाङमय का द्विधा-विभाजन किया है (१) स्वभावोक्ति तथा (२) वक्रोक्ति।[१] वे कवि जो गुण तथा अलंकार-प्रयोग के प्रति अभिनिविष्ट थे, उनके लिए काव्य का वक्रोक्ति मार्ग ही श्रेयस्कर रहा होगा। दण्डी ने स्वभावोक्ति अलंकार का व्याख्यान थोड़ा ही किया है, पर वे बड़ी दृढ़ता से स्वभावोक्ति और जाति को आद्या अलंकृति कहते हैं। दण्डी सूक्ष्मदर्शी आचार्य हैं, उन्होंने काव्य-शास्त्र का व्याख्यान प्रयोग को दृष्टि में रखकर

---

१. काव्यादर्श २।३६३

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङमयम्॥

किया। जहाँ वे काव्य-रचना में स्वभावोक्ति को एक परम्परा या सरणि स्वीकार करते हैं वहाँ उनकी दृष्टि सहज भाव के प्रस्तोता इन गाथा-कवियों तथा मुक्तक-सूक्तिकारों के रचना-सौन्दर्य के प्रति ही आनत है, विश्लेषण के अनन्तर यह अनुमान दृढ़ होता है। इतिहास के पृष्ठ यही कह रहे हैं।

●

४. नैषधीयचरित का कृतित्व

मध्यकालीन इतिहास-काल में लिखे गये महाकाव्यों में 'नैषधीयचरितम्' काव्य का नाम संस्कृत-जगत् में अगाध-निष्ठा से लिया जाता है। इसके रचयिता कवि श्रीहर्ष ने इस काव्य के प्रणयन में अपने पाण्डित्य तथा कवि-प्रतिभा दोनों का समन्वित निदर्शन इतने कौशल से किया है कि व्याकरण तथा दर्शन में गति रखने-वाले विद्वानों और काव्य-रचना में दूर की कल्पना में डूबनेवाले सूक्ति-रसिकों को इसकी प्रशंसा करने के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं। संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखनेवाले या संस्कृत काव्य के आलोचक कतिपय विद्वानों ने जब अपने को 'नैषधीयचरितम्' के मूल्यांकन में प्रवृत्त किया तब उनको वाल्मीकि, कालिदास या बाणभट्ट सभी भूल गये हैं। मूलरूप से इस काव्य का कथानक—नल-दमयन्ती की प्रेम-गाथा तथा संघर्षों के साथ सम्पन्न होनेवाली उनकी परिणय-कथा है। प्रणय पर आधारित प्रबन्धों के लिखने की परम्परा मध्यकाल में बहुत रही है। पर उसको कवि-प्रतिभा का सर्वोच्च निकष स्वीकार कर लिया जाये यह सौभाग्य नैषध काव्य को ही मिला है। वस्तुतः होता यह था कि प्रणय की कहानियाँ कथा या आख्यायिका की परिभाषा में सूत्रित गद्य-काव्यों में निबद्ध की जाती थीं, जिनमें मानव-मन की शतशः गतिविधियों एवं कवि-कल्पना की अनेक उड़ानों के लिए खुला आकाश होता था। काव्य-रचना की सरणि उससे भिन्न हो जाती है जहाँ कवि की कल्पना अपने कथा-नायक के उदात्त-चरित का अतिक्रमण नहीं कर सकती, वह उसके गाम्भीर्य और मानव-मन की सहज संवेदनाओं के बीच खो जाती है, खो जाने के बाद जब वह कवि की उक्ति में प्रतिफलित होती है तब उसका रूप न तो लोकोत्तर होता है, न इस लोक का होता है। फिर भी वह अनन्य होता है, उसे हम सर्वथा नवीन कहेंगे। भामह ने इसको ही महान् का महच्चरित कहा है (महतां च महच्च यत्)।[1] इस लेख में हम यह आकलित करना चाहेंगे कि क्या श्रीहर्ष ने अपने इस प्रसिद्ध काव्य में महच्चरित की प्रतिष्ठा की है।

---

१. काव्यालङ्कार (भामह) १।१९।

संस्कृत साहित्यालोचकों ने नैषधीयचरित की प्रशंसा में अतिशयोक्ति कर दी है। 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।' यह बात तो पुरानी हो गयी। इन तीनों महाकाव्यों को बृहत्त्रयी कहा जाता है और इनमें नैषध का ऊँचा स्थान है। इस बीसवीं शती में जब साहित्य का आकलन दूर-दृष्टि तथा विराट् लक्ष्य से किया जाने लगा, जिस कसौटी पर कालिदास जैसे कवि ही खरे उतरते हैं तब भी नैषधीयचरित की प्रशंसा का प्रवाह पूर्ववत् बना हुआ है। कुछ बातें इस प्रकार हैं—

"श्रीहर्ष केवल प्रथम कक्षा के कवि ही न थे, प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। श्रीहर्ष में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदयकली को खिलानेवाली स्वभाव-मधुरा कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली अनेक पण्डितों का मद-चूर्ण करनेवाली, तर्ककर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृंगारभूत नैषधीय काव्य की रचना की है, उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के चूडान्त निदर्शन रूप 'खण्डनखण्डखाद्य' की सृष्टि की है।...परन्तु दीर्घकाल में केवल पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ इनके जोड़ का कवि विरला ही होगा। हमारे चरितनायक केवल, कवि-पण्डित ही न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड साधक तथा उन्नत योगी भी थे।"[1]

प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक, डॉ० ए० बी० कीथ ने श्रीहर्ष के प्रति व्यक्त भारतीय मान्यताओं से अपनी विमति प्रकट करते हुए श्रीहर्ष के वैदग्ध्य की प्रशंसा की है—"भारतीय रुचि उनको कालिदास, भारवि और माघ का उत्तराधिकारी एक महाकवि कह कर असन्दिग्ध रूप से उनके प्रति अपने सम्मान को दिखाती है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि इन भारतीय आलोचकों की दृष्टि में 'नलचरित' की मूलकथा श्रीहर्ष के काव्य की तुलना में अत्यन्त नीरस प्रतीत होगी। आधुनिक समय के एक उत्साही महाशय कहते हैं—समस्त पौराणिक उपाख्यान उनकी (श्रीहर्ष की) उँगलियों पर है। अलंकार शास्त्र पर मानो वे सवार हैं। उनके वर्णन के प्रवाह का अन्त नहीं दीखता।...यह लम्बी कविता हमको केवल नल और दमयन्ती के वैवाहिक आनन्द के वर्णन तक ही ले जाती है और शृंगारी युगल के पारस्परिक संवाद में किये गये चन्द्रमा के वर्णन के साथ समाप्त हो जाती है।...तो भी श्रीहर्ष के वैदग्ध्य को स्वीकार करना उचित ही है; उनकी द्व्यर्थक भाषा के प्रयोग की शक्ति का पूर्णतया सदुपयोग उस प्रसिद्ध दृश्य के चित्रण में हुआ है जिसमें दमयन्ती अपने सम्मुख

१. देखिए, पं० बलदेव उपाध्याय-कृत संस्कृत-साहित्य का इतिहास।

आपाततः बिलकुल समान रूप में पाँच व्यक्तियों को देखती है और उनमें से अपना प्रेमी कौन है इसका निर्णय नहीं कर पाती।"[1]

नैषध महाकाव्य का उपजीव्य महाभारत का 'नलोपाख्यान' है। श्रीहर्ष ने इस नलोपाख्यान को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है तथा काव्य की कथावस्तु कल्पित करते समय इस बात का ध्यान नहीं दिया है कि मानव-संवेदन की दृष्टि से कथा के किन अंशों का त्याग और किन अंशों का ग्रहण किया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी किया है कि उपाख्यान के उत्तरार्ध को यों ही छोड़ दिया है जिसमें नल भारी संकटों में पड़ते हैं तथा अपनी प्रिया दमयन्ती से वियुक्त हो जाते हैं। कवि ने केवल अनुराग के आविर्भाव से लेकर स्वयंवर तथा विवाह एवं मिलनरात्रि की कथा तक अपने इस काव्य का कथानक सीमित रखा है। २२ सर्गों के इस अति विस्तृत महाकाव्य में प्रेम एवं श्रृंगार के अतिरिक्त मनोव्यापार का कोई दूसरा पक्ष नहीं है, अतिरिक्त केवल बुद्धि-विलास है। २२ सर्गों की कथा का संक्षेप इस प्रकार है—

सर्ग १ से सर्ग ४ तक—कवि की विनम्र प्रस्तावना है कि राजा नल की कथा मेरी वाणी को पवित्र करेगी। नल का स्वरूप, यश तथा कार्य लोकोत्तर हैं। वे उपवन में विहार करने जाते हैं, वहाँ सरोवर में एक स्वर्णिम हंस को देख कर पकड़ लेते हैं, हंस विलाप करने लगता है, फिर राजा उसे छोड़ देते हैं। राजा के छोड़ देने पर हंस विदर्भ की राजकुमारी दमयन्ती के लोकोत्तर सौन्दर्य का वर्णन करता है, जिसे सुन कर राजा नल मुग्ध होता है। राजा की आज्ञा से हंस दूत बनकर दमयन्ती के पास राजा भीम की राजधानी कुण्डिनपुर पहुँचता है, दमयन्ती अपनी सखियों के साथ उपवन में थी। हंस उसे आकर्षित कर अकेले में ले जाकर फिर नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है, चित्र बना देता है। दमयन्ती के प्रेम की स्वीकृति पाकर हंस नल के पास लौट आता है। जहाँ दमयन्ती के विरह में व्याकुल नल हंस की प्रतीक्षा कर रहा था। हंस ने नल को दमयन्ती की स्वीकृति का शुभ सन्देश सुनाया। हंस के चले आने पर दमयन्ती नल के विरह में अत्यन्त पीडित हो उठी। वह सखियों से बात करती है, मूर्च्छित होती है। दमयन्ती के मूर्च्छित होने की बात सुनकर पिता राजा भीम अमात्य तथा राजवैद्य के साथ आकर उसके उपचार की व्यवस्था करते हैं।

---

१. डॉ० मंगलदेव शास्त्री द्वारा अनूदित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ १७४-७५।

सर्ग ५ से सर्ग ९ तक—राजा भीम ने दमयन्ती के स्वयंवर का आयोजन किया। देवर्षि नारद ने इस स्वयंवर की सूचना अमरावती में जाकर इन्द्र को दी। इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण भी दमयन्ती को पाने की लालसा में स्वयंवर में भाग लेने के लिए चल पड़े। रास्ते में उनकी भेंट राजा नल से हो गयी। नल का रूप और सौन्दर्य देखकर इन्द्र आदि चारों देव इस बात के लिए निश्चिन्त हो गये कि नल के रहते दमयन्ती हमारा वरण नहीं कर सकती। तब उन्होंने नल की बड़ी चाटु-कारिता की और नल को अपना दूत बनाकर दमयन्ती के पास भेजा। साथ ही नल को अदृश्य होने की शक्ति प्रदान की। नल अपने तेज रथ से कुण्डिनपुर पहुँच गये। फिर अदृश्य होकर दमयन्ती के भवन में जा पहुँचे। सखियों के बीच दमयन्ती को नल ने उसके अत्यधिक सौन्दर्य से पहचान लिया। उस समय इन्द्र आदि देवों की दूतियाँ अपने-अपने देवों को वरण करने के लिए दमयन्ती से उनका गुण-गान कर रही थीं। किन्तु दमयन्ती ने सभी का तिरस्कार कर दिया। नल यह देख रहे थे। दूतियों के निराकरण से वे मन ही मन प्रसन्न हुए। फिर अदृश्य रूप में ही दमयन्ती के अनुपम सौन्दर्य को मुग्ध होकर देखने लगे। उसे विस्तार से नख से शिखा तक देखा। फिर वे दमयन्ती के सामने प्रकट हुए और कहा कि मैं देव-सभा से आया हुआ दूत हूँ। उन्होंने इन्द्र आदि के अनुराग की बात कही और कहा कि मेरी प्रार्थना है कि इनमें से किसी का आप वरण करें। दमयन्ती अपने अन्तःकरण से नल के सौन्दर्य को देखकर मन ही मन मुग्ध हो रही थी, जो उसके सामने एक पर-पुरुष (दूत) के रूप में खड़ा था। दमयन्ती ने बार-बार उससे परिचय देने का आग्रह किया पर नल ने अपने को बताया नहीं। अपितु यह कहा कि अगर आप देवों का वरण नहीं करेंगी तो देव ऐसी माया करेंगे कि आप नल को पा ही नहीं सकतीं। इसे सुनकर दमयन्ती बहुत खिन्न हुई। ऐसा आभास हुआ कि इस वेदना से उसकी मृत्यु हो जायगी। दमयन्ती को विलाप करते देख नल ने अपने को प्रकट कर दिया और दमयन्ती को आश्वस्त किया। लेकिन जब उनको ध्यान आया कि मैं दूत हूँ तो वे खिन्न हो गये। उसी समय उनका वह परिचित हंस आ गया और उनसे कहा कि आप सब कुछ भूलकर दमयन्ती का वरण करें। नल ने दमयन्ती को आश्वासन दिया कि मैं स्वयंवर में आऊँगा। तदनन्तर वे देवों के पास लौट गये।

सर्ग १० से सर्ग १४ तक—स्वयंवर में चारों दिशाओं से राजाओं ने आगमन किया। इन्द्र आदि चारों देव और नल भी आये। विष्णु भगवान् तथा वाल्मीकि आदि ऋषि भी स्वयंवर देखने आये। विष्णु ने सरस्वती को स्वयंवर में भेजा कि वह स्वयंवर में जाकर दमयन्ती की सखी बने और आए हुए राजाओं

का वर्णन करे। स्वयंवर सभा में दमयन्ती सरस्वती के साथ आती है। ग्यारहवें और बारहवें दो सर्गों में स्वयंवर में आये हुए राजाओं का वर्णन किया जाता है। इन्द्र आदि देवों के अतिरिक्त स्वयंवर-सभा में पुष्कर द्वीप, शाक द्वीप, क्रौञ्च द्वीप, कुश द्वीप, शाल्मलि द्वीप, प्लक्ष द्वीप और जम्बू द्वीप के राजा आये हैं। भारत-भूमि के जो राजा आये हैं—वे हैं अवन्ति, गौड़, मथुरा, काशी, अयोध्या, पाण्ड्य, महेन्द्रपर्वत, काञ्चीपुरी, नेपाल, मलय, मिथिला, कामरूप, उड़ीसा तथा कीकट देश के राजा। सरस्वती एक-एक राजा का वर्णन करती है। दमयन्ती उसे सुनकर राजाओं का त्याग कर आगे बढ़ती जाती है। फिर इन्द्र आदि चारों देव और नल दमयन्ती के सामने आते हैं। तेरहवें सर्ग में कवि ने सरस्वती के द्वारा ऐसे श्लेष युक्त छन्द का प्रयोग कराया है जिसमें एक साथ इन्द्र और नल, अग्नि और नल आदि का वर्णन होता है ये चारों देव नल का ही रूप धारण कर वहाँ बैठे हैं। फिर एक छन्द ऐसा प्रयुक्त किया जाता है जिसमें पांचों नलों का श्लेष से एक-साथ वर्णन किया जाता है। दमयन्ती यह देखकर संशय में पड़ जाती है और चिन्तित होती है। तब वह इन्द्र आदि की मानसिक पूजा करती है जिससे प्रसन्न होकर ये देव अपना विशेष चिह्न प्रकट करते हैं और फिर सही नल दमयन्ती की पहचान में आ जाता है और वह उसको जयमाल पहना कर वरण करती है।

सर्ग १५ से १६ तक—दमयन्ती के द्वारा नल के वरण करने पर कुण्डिनपुर में प्रसन्नता का वातावरण छा गया। विवाह के लिए कुण्डिनपुर की सजावट की जाने लगी। नल रथ पर सवार होकर जब जाने लगे तो राजधानी के पुरुष और नारी विविध कौतुक और भाव-चेष्टाओं से भर उठे। कवि ने यहाँ पर वर यात्रा (बारात) का भी वर्णन किया है। उस समय के राजाओं के ठाठ-बाट और भोजन वैविध्य के जो भी प्रसङ्ग थे, सबका वर्णन कवि यहाँ करता है। विवाह के बाद नल दमयन्ती के साथ विदा होकर अपने निषध देश में वापस आते हैं।

सर्ग १७—स्वयंवर से निराश होकर इन्द्र आदि देव जब स्वर्ग को लौट रहे थे तब उन्हें मार्ग में काले पुरुषों का झुण्ड दिखाई पड़ा। उनमें एक अज्ञात व्यक्ति यज्ञ-कर्म देव-पूजा आदि की निन्दा करने लगा। जब देवों ने उसे डाटा तब वह क्षमा माँगने लगा, तब तक कलियुग प्रकट हो गया। उसने अज्ञात व्यक्ति की बातों का समर्थन किया, और स्वयंवर में जाने की इच्छा प्रकट की। जब उसे मालूम हुआ कि दमयन्ती ने नल का वरण कर लिया तब वह बहुत दुःखी हुआ और उसने कहा कि मैं दमयन्ती को नल से वियुक्त करा के छोड़ूँगा। देवों के मना करने पर भी वह नल के देश की ओर चल पड़ा। द्वापर ने भी कलियुग का समर्थन किया। नल की राजधानी में पहुँच कर कलि ने बगीचे के बहेड़े के वृक्ष पर बहुत

वर्षों तक निवास किया और नल में दोषान्वेषण करता रहा जिससे उनके विरुद्ध कोई छल-प्रपञ्च करे। पर उसे कोई दोष मिला नहीं और वह निराश रहा।

सर्ग १८ से सर्ग २२ तक—इन पाँच सर्गों में कवि ने विवाहोपरान्त नल-दमयन्ती के विलास का वर्णन किया है। १८वें सर्ग में उसने कुछ-कुछ 'कुमारसंभव' के नकल की चेष्टा की है। उन्नीसवें सर्ग में प्रभातकाल में चारण द्वारा गीत गाकर नल को जगाने का वर्णन है। कवि यह वर्णन करता है कि नल आकाश-गंगा में स्नान करने जाता है। बीसवें सर्ग में दमयन्ती और उसकी सखी कला के साथ नल के परिहास का वर्णन मध्यकालीन राजाओं की विलास-संस्कृति का प्रतीक है। इक्कीसवें सर्ग में नल की दिन-चर्या का वर्णन कवि करता है जिसमें स्नान, तर्पण, पूजन आदि सब आते हैं। काव्य-रचना की दृष्टि से काव्य का बाईसवाँ सर्ग महत्त्वपूर्ण है, जिसमें नल ने दमयन्ती से रात्रि में उदित हुए चन्द्रमा का वर्णन किया है। इस प्रसंग में उन दोनों के परस्पर परिरम्भ और अनुराग का भी वर्णन है।

अन्त में कवि ने चार छन्दों में ग्रन्थ की और अपनी प्रशस्ति भी गायी है।

श्रीहर्ष ने काव्य का यह कथानक महाभारत से लिया है। कहा नहीं जा सकता कि यह कथानक मूल महाभारत में था या बाद में प्रक्षिप्त हुआ है। लेकिन तीसरी शताब्दी ई० तक जब महाभारत शतसाहस्रीसंहिता बन चुका था तब उसमें यह नलोपाख्यान अवश्य ही था। वनपर्व के २७ अध्यायों में (अध्याय ५३ से अध्याय ७९ तक) यह नलोपाख्यान वर्णित किया गया है जिसको बृहदश्व ऋषि ने पाण्डव युधिष्ठिर को सुनाया है। सुनाने के प्रसंग में यह था कि हे राजन् युधिष्ठिर इस समय आप द्यूत में अपना सारा राज्य हार कर वन में घूम रहे हैं और कष्ट उठा रहे हैं, वनवासी वने हैं इससे दुःखी मत होइये। आपनी भी अधिक कष्ट पुत्र और पत्नी का वियोग राजा नल ने उठाया था। इसी प्रसंग में युधिष्ठिर द्वारा प्रश्न किये जाने पर उन्होंने पूरा नलोपाख्यान सुनाया है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य में उस कथानक का तिहाई हिस्सा लिया है। उसे ही अपनी विविध कल्पनाओं, युक्तियों से विपुल विस्तार दिया है। कवि ने प्रेम और विवाह के ही प्रसंग तक महाकाव्य की कहानी को सीमित रखा है। नलोपाख्यान का मर्मस्पर्शी और हृदय को छूनेवाला हृदय-द्रावक प्रसंग इसके बाद आता है। जिसमें नल राजा पुष्कर के साथ द्यूत क्रीड़ा में अपना सारा राज्य और धन हार जाते हैं। राज्य से निकलकर वन को चल देते हैं, उन्हें कहीं रहने का ठिकाना नहीं मिलता। यह सब इसलिए हुआ कि कलि ने दमयन्ती के विवाह से ईर्ष्या कर नल के भीतर प्रवेश कर उनकी बुद्धि नष्ट कर दी। एक दिन वन में रात में सोती हुई दमयन्ती को छोड़कर

नल चले गये। जगने पर दमयन्ती ने बड़ा विलाप किया। किसी प्रकार उसने चेदि के राजा के यहाँ शरण ली, उधर नल अयोध्या-नरेश ऋतुपर्ण के यहाँ गये और उनके यहाँ उन्होंने सारथि की नौकरी की।

नल अश्व विद्या के बड़े ज्ञाता थे। विपत्ति का यह समाचार जब दमयन्ती के पिता को मालूम हुआ, उन्होंने ब्राह्मण को भेजकर दमयन्ती का, फिर नल का पता लगाया। लम्बी खोज के बाद फिर सबका समागम विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर में हुआ। इस प्रकार कथानक का यह उत्तरार्द्ध भाग ही नलोपाख्यान का मुख्य विधेय है। जो मनुष्य के हृदय के साथ तादात्म्य करता है कि ऐसी विपत्ति भी उठानी पड़ सकती है तथा इसी प्रमाण के लिए महाभारत में यह आख्यान निबद्ध किया गया।

पहले उद्धृत किया जा चुका है कि कवि एवं पाण्डित्य के धनी श्रीहर्ष के इस काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हमारे साहित्यालोचक अघाते नहीं। सम्भवतः यह प्रशंसा उनकी दूरगामी उक्तियों, कल्पनाओं और ऐसे वाक्य-विन्यासों के लिए है जो उनके व्याकरण ज्ञान को मण्डित करते हैं। हमारी दृष्टि में यह महाकाव्य कविता की दृष्टि से अद्वितीय होना तो बहुत दूर की बात है केवल साधारण काव्य है। इस काव्य को व्याकरण तथा वेद-शास्त्रों के पाण्डित्य का पानक-रस कहा जाना चाहिए। जब हम इसको पढ़ने लगते हैं तब मुख्य कथा-वस्तु की कथारस धार अत्यन्त क्षीण रूप से व्याकरण और शास्त्र की बीहड़, लम्बी और बेडौल चट्टानों के नीचे खोई हुई कहीं-कहीं बहती दिखाई देती है। सारा कथारस कल्पनाओं के बीहड़ जंगल में खो गया है। ऐसा खो गया है कि शायद कवि को भी सन्देह होने लगता है कि मैंने लिखा क्या है? इसीलिए वह अपने समसामयिक पण्डितों एवं कवियों के बीच दर्प के साथ कहता है कि यह काव्य शृंगार-रूपी अमृत का चन्द्रमा है। हो सकता है कि मेरे इस काव्य का अरसिक पुरुष लोग आदर न करें पर विद्वान् तो इसे पढ़कर आनन्दित ही होंगे। इसलिए मैं अल्पज्ञ पुरुषों की चिन्ता नहीं करता क्योंकि यह बात लोक-सिद्ध है कि परम सुन्दरी भी रमणी युवकों को आकर्षित करती है कुमारों को नहीं[1]। नैषधीयचरित के प्रत्येक

---

१. कविप्रशस्ति १

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः॥

सर्ग के अन्त में कवि ने विविध उक्तियों से अपनी और अपने काव्य की प्रशंसा की है। इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि इस काव्य में न कोई कथा-रस है, न काव्य-रस है। अगर होता तो इसका रचयिता कवि उस रस में डूब कर उसी में खो कर फिर कुछ कहने की बात सोचता ही न। सोच ही नहीं सकता था। कवि और उसकी सृष्टि ईश्वर की सृष्टि के समानान्तर है। कहा गया है कि ईश्वर अपनी सृष्टि रचकर उसी में खो गया—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। पर हमारा यह कवि अपनी सृष्टि रचकर उसी के किनारे खड़ा होकर ढोल पीट रहा है कि यह मनोहर रचना-रूप नैषधीयचरित महाकाव्य है।[1] मैंने चिन्तामणि मन्त्र की जप-सिद्धि के फलस्वरूप शृंगार-रचना का मनोहर नैषधीयचरित काव्य लिखा है।[2] तर्कशास्त्र में अपनी समानता न रखनेवाले कवि ने इस नैषधीय-चरित काव्य को लिखा है।[3] निषध देश के राजा के चरित पर लिखा हुआ यह काव्य शृंगाररस-रूपी अमृत का चन्द्रमा है, आदि आदि। फिर अन्त में उसने अपनी गर्वोक्ति में कहा—पर्वतों से अनेक नदियाँ निकली है उन नदियों की तुलना उनसे ही होनी चाहिए। मेरा यह काव्य तो एक नये क्षीर-समुद्र के रूप में उदित हो रहा है जो मथनेवाले के लिए अमृत देगा।[4] आगे वह लिखता है कि जो अपने को विद्वान् मानते हैं पर वास्तव में विद्वान् हैं नहीं, जिन्होंने गुरु-परम्परा से पढ़ा नहीं है, ऐसे खलों के लिए ही मैंने जगह-जगह जानबूझकर इस काव्य में समास, व्याकरण, उक्ति आदि की दुरूह गाठें रख दी हैं, जिससे वे इस काव्य से खिलवाड़ न करें, और तिरस्कारपूर्वक इसको न पढ़ें कि इसमें क्या रखा हुआ है।[5] अर्थात् श्रीहर्ष ने अपने पाण्डित्य का दर्प प्रकट करने के लिए अपने काव्य की रचना की है और इन उक्तियों द्वारा उसने अपनी कुण्ठा की अभिव्यक्ति की है। शायद हर्ष इस बात से परिचित नहीं थे कि सूर्य और चन्द्रमा यह घोषणा करते हुए आकाश में नहीं उदित होते कि मैं सूर्य आ गया, मैं चन्द्रमा आ गया। उनका ताप और

---

१. नै० च० सर्ग २-३ के अन्तिम छन्द।

२. नैषधीयचरित १।१४५।

३. नैषधीय चरित १०।१३८। ४. कवि प्रशस्ति २।

५. कवि प्रशस्ति ३।

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

उनकी चाँदनी अपने-आप उनका प्रमाण है। पर यहाँ श्रीहर्ष को यह घोषणा करनी पड़ रही है कि काव्य-जगत् में शृंगारामृत के चन्द्रमा नैषधीय काव्य का उदय हो गया है। कवि की ऐसी कुण्ठा क्यों है यह खोज का विषय है। मध्यकालीन प्रायः सभी कवियों की यही हीन मनोदशा है। ऐसा वे क्यों कहते हैं। शायद इसके पीछे यह रहस्य हो कि राज-सभा की बाजार में अपने काव्य की ऊँची कीमत लगवाना चाहते हैं। अर्थात् नैषधीयचरित काव्य में जो भी अनेक विशेषताएं हों, वे होंगी, पर एक विशेषता उसकी आदि से अन्त तक व्याप्त है वह है राज-दरबारी रस।

श्रीहर्ष बारहवीं शताब्दी के मध्य में हुए, तथा कन्नौज नरेश विजयचन्द और उनके पुत्र जयन्त चन्द्र (जयचन्द) की राज-सभा के कवि और पण्डित थे। उनका यह काव्य हमारे विचार में एक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। भारत के मध्यकालीन इतिहास की राजनीति, समाज, संस्कृति, धार्मिक धारणाएं और ज्ञान-विज्ञान की जो कुण्ठा उस युग में विद्यमान थी, विद्वानों में जो व्यर्थ का अहंकार छाया था, राजा लोग उत्तर भारत को खण्ड-खण्ड में बाँटकर अभिमान में जो चूर हो रहे थे, धर्म में सिद्धि के नाम पर जो वामाचरण की साधना और नारी के सौन्दर्य को देवी के रूपचित्रण में स्थानान्तरित किया जा रहा था, दर्शन में तत्त्व-चिंतन का स्थान जो जल्प और वितण्डा ले रहे थे, इस तरह की अनेक रूढ़ियों और अभ्युदय के रूढ़ि-आवृत मार्ग का जीवन्त प्रतीक यह नैषधीयचरित महाकाव्य है। मध्यकाल के ज्ञान-विज्ञान और भावना में कुण्ठा-ग्रस्त कवि की दिशा-हीन जीवनपद्धति इस काव्य में है। उसमें कर्तृत्व के तत्त्व बड़ी कठिनता से मिलेंगे, जीवन को प्रलाप में प्रवाहित करने की धारा वास्तव में प्रवाहित है, स्वयं कवि भी इस द्विविधा में अपने को भ्रमित कर रहा है। उसने अपने लिए दो विपरीत बातें लिखी हैं जो एक व्यक्ति में सम्भव नहीं हो सकतीं। उसने लिखा है कि मैं वह श्रीहर्ष कवि हूँ जो कान्यकुब्जेश्वर की सभा में दो बीड़ा पान और बैठने का आसन पाता है तथा मैं वह कवि हूँ जो समाधि में ब्रह्म के आनन्द-सागर का साक्षात्कार करता है।[१] कवि इस प्रकार की गर्वोक्ति भले ही करे, पर उसने

---

१. कवि-प्रशस्ति ४

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा—
द्यः साक्षात् कुरुते समाधिषु परब्रह्म-प्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्॥

दोनों बातें जो अपने सम्बन्ध में लिख रखी है उनमें एक ही सत्य है और श्रीहर्ष के बारे में तो यही सत्य है कि वे कान्यकुब्जेश्वर से दो बीड़ा पान पाते थे। यह भी सत्य है कि जिसने समाधि में ब्रह्म का दर्शन किया हो, वह राज-सभा में नहीं बैठेगा। श्रीहर्ष का यह काव्य ऐसे ही विरोधी विचारों, गर्वोक्तियों तथा चित्र-विचित्र उक्तियों का ऐसा घना जंगल है जिस जंगल के वृक्ष फूल और फल से हीन हैं। यह भी विचारणीय है कि कवि ने नल को पुत्र होने का वर्णन नहीं किया, जबकि मूल नलोपाख्यान में पुत्र उत्पन्न होने के बाद ही कलि इन्हें आक्रान्त करता है। इस प्रकार यह महाकाव्य मध्यकालीन इतिहास और संस्कृति का एकत्र लघु-चित्र है।

यहाँ हम नैषधीयचरित काव्य के कृतित्व की तीन दृष्टियों से समीक्षा करना चाहेंगे और यह देखेंगे कि इस समीक्षा के अनन्तर यह काव्य समालोचकों द्वारा की गयी प्रशंसा का विभव वहन करता है या नहीं। अथवा यह केवल रूढ़ विलास और कुण्ठा का प्रतीक है। समीक्षा की तीन दृष्टियाँ यह हैं—१. कथा-वस्तु का विन्यास २. कवि का देश-काल-सम्बन्धी ज्ञान ३. कल्पना द्वारा काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि।

पहले हम नैषध महाकाव्य की कथावस्तु के विन्यास की परीक्षा करते हैं, कवि ने आरम्भ में ही कहा है—

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥

(नैषध १।३)

अर्थात् उस नल की कथा स्मरण किये जाने पर अपने रस-प्रवाह के द्वारा यहाँ इस कलियुग में भी जगत् को पवित्र बनाती है, तो वह कथा मेरी कलुषित वाणी को भी अपनी सेविका समझकर क्या पवित्र नहीं करेगी, अर्थात् पवित्र करेगी। इस छन्द से यह आशय निकलता है कि कवि नल और दमयन्ती के प्रेम-प्रसंग को लेकर बहुत आकृष्ट है, अतः उसे अपनी काव्य-वाणी में निबद्ध कर उस श्रद्धा की अभिव्यक्ति करना चाहता है जो उसके मन में नल और दमयन्ती के रति-प्रेम के प्रति उत्पन्न हुई है। हमें इस बात पर गौर करना चाहिए कि नल दमयन्ती की प्रेम-कथा पुराणों में वर्णित अवश्य है पर वह किसी ऐसे प्रेरक प्रसंग का जनक नहीं है जो देश की परम्परा को शक्ति और शौर्य प्रदान करे, जैसा कि रघुवंश महाकाव्य के नायक करते हैं। श्रीहर्ष अपने मध्यकालीन भारतीय इतिहास के आलस्य-विलास और कुण्ठा में डूबा हुआ कवि है जो नल और दमयन्ती

की प्रेम से भींगी कहानी को गाकर अपनी वाणी को पवित्र करना चाहता है, जबकि यह भी ज्ञातव्य है कि वह अपने को महान् दार्शनिक और समाधि में ब्रह्म का दर्शन करनेवाला कहता है। हम ऐसा अनुमान करते हैं, जैसे कि उस युग में राजाओं का शौर्य राजकुमारियों से प्रेम करने और प्रेम के उपरान्त उनसे वीरता के साथ परिणय करने में प्रकट होता था, वैसे इस कवि ने अपनी वाणी का शौर्य इस प्रेम-प्रबन्ध के निबद्ध करने में व्यक्त किया है।

यह सब होने पर भी कथा-विन्यास में कवि की प्रतिभा का कौशल देखा जाता है कि वह कथा को प्रस्तुत कैसे करता है। हमारे सामने दो उदाहरण हैं कालिदास का रघुवंश महाकाव्य और बाणभट्ट का कादम्बरी कथा-प्रबन्ध। कालिदास रघुवंश का आरम्भ करते हुए लिखते हैं कि इक्ष्वाकु एक महान् राजवंश था। जो जन्म से ही शुद्ध था। देवलोक तक जिनके रथ की गति थी। जो विधिपूर्वक यज्ञ-कर्म करते थे, आदि। यह सब बातें कवि ने सहज वाणी में कही हैं। क्योंकि इनका अर्थ ही इतना उज्ज्वल है कि उसके लिए वक्र उक्ति या अलंकार की अपेक्षा नहीं है। इसके अनन्तर वह कहता है कि उस इक्ष्वाकु वंश में दिलीप नाम का राजर्षि हुआ जैसे क्षीर-सागर से चन्द्रमा निकला हो। पाँच महाभूतों की महासमाधि में बैठकर ब्रह्मा ने उसे बनाया था। वह यज्ञ करके देवों को प्रसन्न करता था और इन्द्र पानी बरसा कर उसकी प्रजा को। उसकी अनेक विशेषताएँ थीं। उसका रूप-आकार शौर्य बिखेर रहा था। सुदक्षिणा नाम की उसकी धर्म-पत्नी उसकी आज्ञाओं का पालन करती थी। यहाँ तक कहकर कवि ने मानो ऐसा कह डाला कि कुछ कहने को बाकी नहीं रहा। और आगे क्या कहा जायेगा, बात तो सारी समाप्त हो गयी। पर यहीं पर कवि मन को संवेदना से भर देनेवाले कथा के नये प्रवाह की उद्भावना करता है। उसने एक महान् अभाव की सृष्टि खड़ी कर दी और हमें तथा कथा के अन्तर्मन को उत्कण्ठा से उद्वेलित कर दिया, उसने लिखा—

तस्यामात्मानुरूपायामात्म - जन्मसमुत्सुकः।
विलम्बित-फलैः कालं स निनाय मनोरथैः॥

(रघुवंश १।३३)

अर्थात् वह राजा दिलीप अपनी अनुगामिनी और आज्ञाकारिणी पत्नी में अपने ही अनुरूप औरस पुत्र की कामना से प्रतीक्षा करता रहा, पर बहुत समय बीत गया उसे कोई सन्तान नहीं हुई। वह इससे बहुत चिन्तित हुआ कि उसके बाद उसके राज्य और प्रजा का उत्तरदायित्व कौन सँभालेगा। इसके लिए उसने गुरु वशिष्ठ

के आश्रम में जाने का निश्चय किया, जिससे उसको तेजस्वी सन्तान की प्राप्ति हो और इस प्रकार रघुवंश महाकाव्य की कथा आगे बढ़ती है। कवि कालिदास इस अभाव के द्वारा कथा-वस्तु के सौन्दर्य और शक्ति को द्विगुणित कर देता है।

सातवीं शती में होनेवाले महान् रचनाकार बाणभट्ट ने भी जब अपना कादम्बरी कथा-काव्य लिखा तो उन्होंने भी कथा में सौन्दर्य के आधान-हेतु ऐसे अभाव की सृष्टि पहले ही कल्पित कर ली थी। राजा शूद्रक का वर्णन करते हुए बाणभट्ट ने लिखा कि वह महान् प्रतापी है, पृथिवी का सारा विभव उसके पास है। वह बिल्कुल युवावस्था में है। उसके समान वय विद्या वाले ही राजकुमार उसके साथी हैं। वह उनके साथ तरह-तरह के विनोद और विद्या-सम्बन्धी चर्चाओं में समय व्यतीत करता है। शत्रु कहीं है नहीं और राज्य का शेष कार्य-भार मंत्री वहन करते हैं। यह अवस्था उसकी ऐसी है कि उसे विवाह करना चाहिए, मंत्री लोग भी चाहते हैं कि राजा विवाह करे, उसकी सन्तान-परम्परा आगे बढ़े जिससे राज्य सुरक्षित रहे। एक से एक बढ़कर गुणवती और सौन्दर्यवती राजकुमारियों के प्रस्ताव उसके सामने हैं। पर राजा है, विचित्र कि इन युवतियों की ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं। उसे युवतियों और उनके विलास के प्रति घोर द्वेष और घृणा है। जब बाणभट्ट अपने नायक शद्रक का ऐसा चित्रण करते हैं और यह स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रक के मन का अधिकांश धरातल किसी महान् अभाव से पीड़ित है जिसके कारण वह युवतियों को अपने मन में स्थान नहीं दे पा रहा है—

तस्य चातिविजिगीषुतया महासत्त्वतया च तृणमिव लघुवृत्ति स्त्रैणमाकलयतः प्रथमे वयसि वर्तमानस्यापि रूपवतोऽपि सन्तानार्थिभिरमात्यैरपेक्षितस्यापि सुरत-सुखस्योपरि द्वेष इवासीत्। सत्यपि रूपविलाससोपहसितरतिविभ्रमे लावण्यवति विनयवत्यन्वयवति हृदयहारिणि चावरोधजने . . .।"

तब इसके अनन्तर उत्सुकता से भरे पाठकों की मनोवृत्ति कुछ सोचे या न सोचे, कवि बाणभट्ट कथा को नया मोड़ दे देते हैं। एक दिन प्रातःकाल जब राजा राज-सभा में बैठा था एक चाण्डाल-कन्या सोने के पिंजड़े में बन्द तोते को लिए हुए राजा के पास आयी। वह तोते को राजा को भेंट करना चाहती थी। कहने को तो वह चाण्डाल-कन्या थी पर उसका सौन्दर्य अनुपम था। राजा, जिसके लिए कवि ने लिखा कि वह **तृणमिव लघुवृत्ति स्त्रैणमाकलयन्**, था, अब वही उस चाण्डाल-कन्या को **'अचिरोपारूढयौवनाम् अतिशयरूपाकृतिम् अनिमेषलोचनो ददर्श।'** चाण्डालकन्या के सौन्दर्य को देखकर राजा की मनोवृत्ति दूसरी हो गयी, वह उस कन्या को अनिमेष दृष्टि से देखने लगा तथा मन ही मन सोचने लगा—अहो, ब्रह्मा

द्वारा गलत स्थान पर सौन्दर्य की सृष्टि करना अच्छा नहीं है। धिक्कार है ब्रह्मा को जो, उसने सौन्दर्य और जाति का विषम संयोग निर्मित किया। यह चाण्डाल-कन्या मनोहर आकृति की होकर रमणीय होकर भी असुरों की लक्ष्मी के समान सतत निन्दित-सुरता होती हुई मेरे मन को उद्विग्न कर रही है, क्योंकि इसका सौन्दर्य मेरे द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता।[१]

रघुवंश और कादम्बरी के इन उदाहरणों से इस बात का आकलन किया जा सकता है कि कुशल कवि किस प्रकार से कथावस्तु का निर्माण एवं उसे संजीवनी प्रदान करते हैं।

कथावस्तु की वक्रता एवं सुसम्बद्धता उसका सबसे बड़ा गुण है और उसकी विशृंखलता ही उसका सबसे बड़ा दोष है। इस सम्बन्ध में प्रो० अय्यर का कथन अवधेय है।[२]

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य की कथावस्तु को महाभारत से ज्यों का त्यों ले लिया है और जैसा कि महाभारत में कहा गया है और जिसके लिए युधिष्ठिर को कथा सुनायी गयी है कि नल ने अपने जीवन में दुर्भाग्य और दुःख की सीमा का अतिक्रमण कर दिया आप (युधिष्ठिर) ने अभी उतना दुःख ही नहीं उठाया और घबड़ा रहे हैं, धैर्य रखिए। श्रीहर्ष ने कथा के उस भाग को अपने महाकाव्य

---

१. कादम्बरी कथामुख (चाण्डाल-कन्या-वर्णनम्)
अहो विधातुरस्थाने सौन्दर्यनिष्पादनप्रयत्नः।....सर्वथा धिग् धिग्विधातारमसदृशसंयोगकारिणम्। मनोहराकृतिरपि क्रूरजातितया येनेयमसुरश्रीरिव सततनिन्दितसुरता रमणीयाप्युद्वेजयति, इति।

२. Aesthetic Satkaryavada—Jha Commemoration Volume–Page 163.

But a literary work only begins with the stanzas or if it is in prose, with the paragraph. Until the stanzas or paragraphs have been knit together into a whole, forming a Mahakavya or Khandakavya or Katha or Champu or Nataka, as the case may be, the creation of the work is not over. It is obvious that unless this unification is carried out well, the work will be spoiled. Parts, in them selves beautiful cannot form a beautiful whole, unless they are strung together beautifully.

में छुआ तक नहीं है। उन्होंने नल-दमयन्ती के प्रेम, स्वयंवर के विस्तृत वर्णन और अन्त में रात्रि-मिलन के वर्णन के साथ काव्य को समाप्त कर दिया है। यह तो सामान्य बात हुई। महाकाव्य, कथा अथवा नाटक के आरम्भ को कवि कैसे उपस्थापित करता है उसकी प्रतिभा की कसौटी इसमें निहित है। श्रीहर्ष ने मौखिक रूप से यह जरूर कहा कि नल की कथा का आस्वादन कर बुधजन अमृत को भी आदर नहीं देते। नल की कथा अमृत का तिरस्कार करने वाली है। पर जब कवि ने नल की कथा का आरम्भ किया तब कहीं भी ऐसा मोड़ दृष्टिगत नहीं कराया जहाँ यह उत्सुकता फूट पड़े कि यहाँ पर कवि अमृत का स्रोत प्रवाहित कर देगा। उसने कथा इस प्रकार आरम्भ की—नल का निर्माण विधाता ने अद्भुत ढंग से किया है, उसके शरीर के जितने रोम हैं वे एक-एक गुण के प्रतीक हैं (कवि ने गुणों को गिनाया नहीं है कि वे गुण कौन-कौन थे। जैसा कि कालिदास दिलीप के गुणों का वर्णन नाम ले-लेकर करते हैं) और इसी प्रकार रोम के जो एक-एक छिद्र हैं वे एक-एक दोष के अभाव के सूचक हैं। ये अभाव कौन-से हो सकते हैं कवि ने कहीं नहीं लिखा।[१] कवि वैसे ही कोरी कल्पनाओं द्वारा नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है जिसमें वस्तु-तत्त्व का कहीं दर्शन नहीं होता, केवल शब्दाडम्बर है। एक जगह ऐसे ही वह कहता है कि कमल को नल की आँख ने जीत लिया और उसकी मुसकान ने चन्द्रमा की चाँदनी को। आँख और मुसकान से ही ये दोनों उपमान पराजित हो गये, अब नल के मुख की उपमा किससे दी जाय। अतः अब नल के मुख के उपमान का बड़ा अभाव हो गया।[२] (नल की आँख कैसी थी, मुसकान कैसी थी इसका कोई वस्तु-चित्र कवि उपस्थित नहीं करता।) नल का सौन्दर्य-वर्णन गणित की तरह है जैसे कहा जाय कि आठ दो का चौगुना है। नल का वर्णन करने के अनन्तर कवि कहता है कि संसार की जितनी युवतियाँ हैं सब नल के प्रति आकृष्ट हैं और रात में स्वप्न में नल का नाम लेती रहती हैं। कवि लिखता है कि जितनी युवतियाँ थीं वे नल के प्रति लुब्ध जरूर थीं पर चित्र में नल के सौन्दर्य को देख कर अपदर्प हो गयीं और जब वे शीशे में अपना सौन्दर्य देखने लगीं तब

---

१. नैषध १।२१

किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान्।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः॥

२. नैषध १।२४

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता॥

निराशा से उनका जो निःश्वास निकला उससे शीशा धूमिल हो गया। केवल विदर्भ की राजकुमारी दमयन्ती को ऐसा नहीं हुआ, यतः वह अद्वितीय सुन्दरी थी। उसने चित्र में नल को देखा और दर्पण में अपने को देखा तो अपने को नल के योग्य समझा, और शीशे में अपना मुख देखते समय न उनका निःश्वास निकला, न ही शीशा धूमिल हुआ। श्रीहर्ष ने इन सब बातों का वर्णन ऐसे किया है जैसे कोई पथिक देशाटन करके आया हो और सुनी सुनायी खबरें सुना रहा हो।

पर कथा के आरम्भ में ऐसा वर्णन करने का कवि का प्रयोजन केवल यही बताना है कि नल बहुत सुन्दर थे और दमयन्ती बहुत सुन्दरी थी तथा दमयन्ती ने अपने को नल के योग्य समझा और नल के विरह में व्याकुल होने लगी। उसी प्रकार कवि ने आगे वर्णन किया है कि नल दमयन्ती के प्रति आसक्त होकर विरह में तप्त होने लगा। कथा कहने की यह क्षमता उन सभी की है जो प्रायः प्रेम-कहानियाँ कहते हैं। श्रीहर्ष की कवि-प्रतिभा का वह निकष इसमें कहाँ है जिसके कारण उनको अद्वितीय काव्य का स्रष्टा माना जाय, और इस काव्य-सृष्टि में उस अमृत-निर्झर का दर्शन किया जाय जिसका पान कर सुधा भी तिरस्कृत हो जाय। श्रीहर्ष ने यहाँ पर नल और दमयन्ती के सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसमें कथा की कोई ऐसी महनीय और उदात्त रेखा दृष्टिगत नहीं होती जिसके कारण इस चित्रण को सामान्य युवक और युवती की प्रेमासक्ति से अधिक और कुछ कहा जाय। जो बात बाण-भट्ट के राजा शूद्रक में है वह यहाँ कहाँ है? राजा शूद्रक जो युवतियों से द्वेष करता था, चाण्डाल-कन्या को देखकर उसके रूप को अनिमेष देखने लगा। यह चाण्डाल-कन्या के सौन्दर्य की सही अभिव्यक्ति है।

श्रीहर्ष दमयन्ती की प्रेमासक्ति का चित्रण करने के अनन्तर वर्णन करता है कि एक दिन नल घोड़े पर सवार होकर उपवन में पहुँचते हैं। उपवन में पहुँचने तक घोड़े की कलाबाजियों का कवि ने ऐसा वर्णन किया है कि कथा की धारा ही विच्छिन्न हो जाती है, लगता है जैसे कवि अश्व-क्रीड़ा अथवा अश्व-कला पर काव्य लिखने बैठ गया हो। उपवन में टहलते हुए उसने सरोवर में एक सुनहले रंग के हंस को देखा और उसको पकड़ लिया। उसके शेष साथी उड़ गये और वह राजा की गोद में विलाप करते-करते मूर्च्छित हो गया। वह मूर्च्छित ही था कि राजा उसको मूर्च्छित तथा विलाप करता देखकर स्वयं रो उठा, और नल के आँसुओं से भींग कर हंस की मूर्च्छा दूर हुई। काव्य का पहला सर्ग यहीं समाप्त हो जाता है। दूसरे सर्ग में हंस लौट कर फिर राजा के पास आता है, दमयन्ती के रूप का चित्रण करता हे और राजा का ेम-प्रस्ताव लेकर दमयन्ती के पास जाता है।

यहाँ काव्य का प्रथम सर्ग इस महाकाव्य की कथा-वस्तु के संजीवनात्मक पक्ष की प्रस्तुति नहीं करता। संजीवनात्मक पक्ष का अर्थ यह है कि कथा हमारे मन के संवेदन से जुड़ जाय और मन उस कथा की गति के साथ गतिशील बन जाय, ऐसा प्रतीत हो कि कथा अपने प्राणों में हमारे प्राणों को आत्मसात् कर रही हैं। ऐसा अनुभव हो कि कथा में कोई बोल रहा है, कोई हमें बुला रहा है, जिसकी वाणी हमारे मन को किसी अनिर्वचनीय प्रकाश से भर दे रही है।

नैषध के प्रथम सर्ग के अन्तिम छन्द हैं—

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान्
प्राक् शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन
नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम्॥

(नैषध १।१४३-४४)

अर्थात् विलाप करते हुए हंस को राजा नल ने छोड़ दिया और कहा कि तुम्हारा सुनहला रूप मैंने देख लिया अब तुम जहाँ जाना चाहते हो जाओ। हंस भी राजा की गोद से उड़कर अपने बंधु-हंसों के बीच में पहुँचा। उसके बान्धव हंस वृत्ताकार उड़ते हुए मानो उसके स्वागत में उसकी नीराजना करने लगे। इन छन्दों में ऐसी कोई बात नहीं कही गयी जिससे अग्रिम कथा क्या होगी, इसका कोई आभास मिले। कवि ने यहाँ पर नल के रूप की अतिशयोक्तियों तथा अश्व-चालन की गतियों को इतना विस्तार दिया कि है कि वह मुख्य कथा की धारा में विशाल आवर्त्त बन कर स्थित हो जाती हैं। काव्य-पाठक का ध्यान दूसरी ओर इस हंस के संवाद के प्रति इतना अधिक आकृष्ट हो जाता है कि वह सोचता ही नहीं कि मुख्य-कथा क्या है? कथा-विन्यास की दृष्टि से कवि की प्रतिभा बहुत विशृंखल हो जाती है। कवि सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाता कि कहाँ कौन सी बात, कितनी कहनी है। नैषधीयचरित के प्रथम सर्ग में इस बात को स्पष्ट करना ही चाहिए था तथा कथा के विन्यास में यह अभिव्यक्त होना ही चाहिए था कि आखिर कवि कथा की सृष्टि क्यों कर रहा है, पर यह बात आगे भी नहीं हुई। श्रीहर्ष रघुवंश अथवा काद-म्बरी की तरह मानव-मन के संवेग और संवेदन को उजागर नहीं करते। रघुवंश में जब कालिदास कहते हैं कि राजा दिलीप में सभी गुण थे, ब्रह्मा ने उसका निर्माण पञ्चभूतों की महासमाधि में बैठ कर किया था, पर संयोग कि ऐसे रूप, शक्ति

और गुण के आगार राजा को कोई पुत्र नहीं हुआ, वह राजा दिलीप राज्य के भविष्य की चिन्ता से दुःखी होकर गुरु के पास इसका निदान तथा समाधान जानने के लिए गया। कवि जब इतना कहता है तब स्वाभाविक रूप से महाकाव्य की कथावस्तु की प्राण-प्रतिष्ठा यहाँ हो जाती है। इसी प्रकार जब बाणभट्ट कहते हैं कि शूद्रक को युवतियों से बहुत द्वेष था वह उनकी ओर देखना नहीं चाहता था पर जब उसने चाण्डाल-कन्या के रूप का दर्शन किया तब उसकी दृष्टि उसके रूप दर्शन में अनिमेष हो गयी। कथा-नायक की मनोवृत्ति का यह अचानक अद्भुत परिवर्तन ऐसी संजीवनी के साथ होता है कि कथा के प्राण इस विन्यास में अपने आप स्फुरित हो जाते हैं। श्रीहर्ष के इस काव्य में प्रथम सर्ग में दमयन्ती नल के चित्र को देखकर कामासक्त हो गयी है। नल भी हंस से दमयन्ती का सौन्दर्य सुनकर अनुराग में डूब गया। प्रत्येक मनुष्य के मनः-संवेग के अनुकूल यह सामान्य बात है, जो सदा से होता आया है। यहाँ कवि ने किसी ऐसे अतिरिक्त प्राण की प्रतिष्ठा नहीं की है जिसमें हमें अमृत के दर्शन होते हों। श्रीहर्ष ने नल-दमयन्ती के इस प्रेम-प्रसंग का आरम्भ मनुष्य की सामान्य वासना के आकर्षण के साथ किया है जो वासना मरती है, जीती है, उसमें अमृत कहाँ? जिस कथा में किसी अभाव का वैशिष्ट्य नहीं, किसी महती उत्कण्ठा का अवतरण नहीं, केवल मनुष्य की वासना की सृष्टि है वह काव्य-सृष्टि कहाँ है? काव्य-सृष्टि तो सदा नवीन होती है, 'नवो नवो भवति जायमानः।' पर श्रीहर्ष करते क्या वे मध्यकालीन इतिहास के उस युग में पैदा हुए थे जिस युग में राजाओं और राजकुमारियों का यह वासनात्मक प्रेम उनके ऊँचे मान और प्रतिष्ठा की कसौटी था। इसके लिए युद्ध तक हो जाते थे। कवि उस युग के बड़े राजा की राजसभा का सेवन करता था। जैसे औषध का सेवन किया जाता है वैसी ही प्रतिभा उत्पन्न होती है। राज-सभा का सेवन कर जैसे काव्य की रचना की जा सकती थी, श्रीहर्ष ने वैसे काव्य की रचना की है। निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'नैषधीयचरित' काव्य का आरम्भ सामान्य वार्ता के समान निष्प्राण है और दूसरे प्रसंगों की उपस्थिति से कथा की धारा ही विच्छिन्न हो गयी है। कविवर श्रीहर्ष यह सोचने में असमर्थ रहे कि कथा का विन्यास कहाँ पर किस तरह से किया जाय, जिससे प्राण-प्रतिष्ठा की जा सके।

कथावस्तु के विन्यास की दूसरी कमी यह है कि उसे पौराणिक गाथाओं और मान्यताओं से लाद दिया गया। स्वयंवर-सभा में केवल भारत के ही नहीं, अनेक उन द्वीपों के राजा आते हैं जिनकी कल्पना अथवा वर्णन केवल पुराणों में है। ये द्वीप हैं—पुष्कर, शाक, क्रौञ्च, कुश, शाल्मली, प्लक्ष, जम्बू। कवि ने स्वयंवर में नेपाल-नरेश का भी वर्णन किया है, जिस नेपाल का अस्तित्व बिल्कुल

नया था, कम से कम राजा नल के समय तो नहीं था। तीन सर्गों में स्वयंवर-सभा का विस्तार कवि ने बहुत अधिक कर दिया है, भिन्न-भिन्न कल्पित द्वीपों के राजाओं के कल्पित वर्णन में उसने केवल अपनी वाणी की सूक्ति-चतुरता प्रकट की है, कवि का यह विस्तार कथा-रूपी—आम्रवृक्ष पर परजीवी वृक्ष की शाखाएँ हैं जो उस वृक्ष को विरूप करती हैं तथा उसकी शक्ति का ह्रास करती हैं। कवि इन राजाओं के वर्णन का इतना अधिक विस्तार करता है कि दमयन्ती का रूप सौन्दर्य और नल के प्रति उसका अप्रतिम प्रेम गौण हो जाते हैं। शाकद्वीप के राजा का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

> शाकः शुकच्छदसमच्छविपत्रमाल-
> भारी हरिष्यति तरुस्तव तत्र चित्तम्।
> यत्पल्लवौघ परिरम्भ विजृम्भितेन
> ख्याता जगत्सु हरितो हरितः स्फुरन्ति॥
>
> स्पर्शेन तत्र किल तत्तरुपत्रजन्मा
> यन्मारुतः कमपि सम्मदमाददाति।
> कौतूहलं तदनुभूय विधेहि भूयः
> श्रद्धां पराशरपुराणकथान्तरेऽपि॥

(नैषध ११।३८-३९)

अर्थात् सखीभूता सरस्वती दमयन्ती से कह रही है—ये शाकद्वीप के हव्य नामक राजा हैं, इनके यहाँ शाक वृक्ष है तोते के पंख के समान नितान्त हरा, उसके पत्तों के समूह के विस्तार से दिशाएँ ऐसी हरित हुईं कि उनकी हरित् संज्ञा ही हो गयी। उस शाक वृक्ष के पत्तों से उत्पन्न वायु अपने स्पर्श से लोकोत्तर आनन्द उत्पन्न करता है, इस राजा को वरण कर उसका अनुभव करो और पुराण में पराशर ऋषि के कहे इस वचन में श्रद्धा स्थिर करो। ऐसे वर्णनों में कवि का मुख्य उद्देश्य तो यह है कि वह अपने पौराणिक ज्ञान का परिचय प्रस्तुत करना चाहता है, तथा जैसा कि इस छन्द में उसने कहा कि 'पराशर- पुराणकथान्तरेऽपि श्रद्धां विधेहि' अर्थात् पुराण में कहे गये पराशर के वचन में श्रद्धा रखो। यहाँ पराशर के उल्लेख में कवि द्वारा अपने अपनत्व की अभिव्यक्ति है, सम्भवतः कवि पराशर गोत्र का है, अथवा पाराशर गोत्र से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि ने सात द्वीपों के राजाओं तथा भारत के अन्य राजाओं को इतने घटाटोप से सामने रखा है कि उन वर्णनों के संवेग में नल की विशेषताएँ एवं उनका अस्तित्व कथा-धारा के किनारे छूट जाते

हैं और प्रबुद्ध पाठक यदि यह जानना चाहे कि दमयन्ती नल का क्यों वरण करे, तो उसे नल के गुणों का स्मरण पुनः ताजा करना पड़ेगा। कवि ने भारतीय राजाओं में अयोध्या, पाण्ड्य, महेन्द्रपर्वत, काञ्चीपुरी, नेपाल, मलय, मिथिला, कामरूप, उत्कल तथा कीकट के राजाओं को ही स्वयंवर में उपस्थित किया है। कवि स्वयं काशी या कान्यकुब्ज के अधीश्वर का सभा-कवि था। उसके समय में कश्मीर नरेश, दिल्लीपति, महोबाधीश तथा धारा के राजाओं की ख्याति थी ही, पर उसने इनमें से किसी को स्वयंवर में उपस्थित नहीं किया है। किन्तु कान्यकुब्जेश्वर को भी स्वयंवर में उसने उपस्थित न किया हो, ऐसा नहीं हो सकता। अपने आश्रय-दाता की प्रशंसा उसे अभीष्ट थी, पर उसने यहाँ कालिदास की सरणि ग्रहण कर ली है। जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' में अपने प्रशंसनीय राजा गुप्त-सम्राट् को मगधेश्वर के रूप में वर्णित किया तथा इन्दुमती द्वारा उसे वरण न किये जाने पर कोई कारण नहीं दिया। केवल यह लिखा कि इन्दुमती के हाथ में दूर्वा में गुथी मधूकमाला कुछ सरक गई और वह मगधेश्वर को सीधा प्रणाम कर विना कुछ कहे अस्वीकार कर आगे बढ़ गयी।[1] इसी प्रकार श्रीहर्ष ने अपने कान्यकुब्जेश्वर आश्रयदाता गाह्डवाल-नरेश के प्रतीक स्वरूप अयोध्यापति राजा ऋतुपर्ण का वर्णन किया है, भारतीय राजाओं में सबसे प्रथम ऋतुपर्ण का वर्णन किया जाता है। कवि ने ऋतुपर्ण की ऊँची प्रशंसा की है, वह केतकी के पुष्प के समान गौर वर्ण है, इसके साथ सरयू नदी में जल-विहार का आनन्द है, इस सूर्यवंशी सूर्यवंशोत्पन्न राजा के पूर्वजों ने समुद्र को खोदा था, पवित्र गंगा को वे ही धरातल पर लाये थे, जिससे वह भर गया, राजा की भुजा से उत्पन्न कीर्तिरूपी पावनी गंगा शत्रु की अपकीर्ति-रूपी यमुना से मिलकर जिस संगम का निर्माण करती है, उसमें वीरगति पानेवाले भट स्वर्गलोक में अप्सराओं का आलिंगन करते हैं—

> द्वेष्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्याऽस्य यद्दोर्द्वयी-
> कीर्तिश्रेणिमयी समागममगात् गङ्गा रणप्राङ्गणे।
> तत्तस्मिन् विनिमज्ज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-
> रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः ॥
>
> (नैषध १२।१२)

---

१. रघुवंश ६।२५

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद् विस्रंसि दूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥

वैसे यह छन्द स्पष्ट रूप से कान्यकुब्जेश्वर की प्रशंसा में लिखी गयी प्रशस्ति है, जिसका गूढ़ भाव इस रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए कि गाहड्वाल नरेश जयचन्द्र की राजधानी कान्यकुब्ज (कन्नौज) गंगा नदी के तट पर है और उसके शत्रु चौहान सम्राट् पृथ्वीराज की राजधानी दिल्ली यमुना नदी के तट पर है। गंगा की उज्ज्वल धारा कान्यकुब्जेश्वर के यश की प्रतीक है और यमुना की नीली (काली) धारा दिल्लीपति पृथ्वीराज के अयश के रूप में प्रवाहित है। प्रयाग के संगम में गंगा की धारा उस अपयश प्रवाह को आत्मसात् करती हुई आगे निकल जाती है। कवि की अभिव्यक्ति यह है कि गाहड्वाल जयचन्द्र का यश दिल्लीपति पृथ्वीराज के यश को अपने में तिरोहित किये है।

उक्त छन्द स्वतन्त्ररूप से भी कन्नौज नरेश की प्रशस्ति है। जैसा कि उसकी भावाभिव्यक्ति साक्ष्य दे रही है। बारहवें सर्ग के शार्दूलविक्रीडित छन्दों में किये गये वर्णनों में अधिकांश सम्भवतः समय-समय पर लिखी गयी प्रशस्तियाँ ही हैं, जिनको कवि ने स्वयंवर वर्णन में अभिनिविष्ट कर सार्थकता प्रदान की है। स्वयंवर में आये ये लम्बे छन्द पहले की लिखी प्रशस्तियाँ हैं, ऐसा विचार एक विद्वान् का भी है।[1]

जब ऋतुपर्ण को अस्वीकार कर दमयन्ती आगे चलने का संकेत करती है तब उसका कोई कारण श्रीहर्ष ने नहीं दिया है। रघुवंश में इन्दुमती मगधेश्वर को प्रणाम कर आगे चल देती है, श्रीहर्ष की दमयन्ती भी ऋतुपर्ण के प्रति विस्मय में शिर हिलाकर आगे बढ़ती है—

इति श्रुतिस्वादिततद्गुणस्तुतिः सरस्वतीवाङमय विस्मयोत्थया।
शिरस्तिरःकम्पनयैव भीमजा न तं मनोरन्वयमन्वमन्यत॥

(नैषध १२।१३)

अर्थात् दमयन्ती ने कान से ऋतुपर्ण के गुणों की प्रशंसा सुनी, सरस्वती की वाणी को सुनकर जो विस्मय हुआ उसके साथ उसने केवल शिर हिलाकर ही अपनी अस्वीकृति प्रकट की, और मनुवंश के उस राजा का अनुमोदन नहीं किया।

इस काव्य में भारतीय राजाओं को स्वयंवर के माध्यम से उपस्थित करने में कवि श्रीहर्ष ने अपने आश्रयदाता कन्नौज-नरेश की रुचि का ध्यान अवश्य रखा होगा। अपने आश्रयदाता की रुचि के प्रति सावधान रहने के कारण ही

---

१. संस्कृत-कवि-दर्शन (डॉ० भोलाशंकर व्यास) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २००।

वह कश्मीर नरेश को नहीं उपस्थित करता, क्योंकि आठवीं शती में (उसके समय से चार सौ वर्ष पूर्व) कन्नौज-नरेश यशोवर्मा कश्मीरपति ललितादित्य से पराजित होकर उसका बन्दी बन गया था। पराजय और लांछन की यह बात कर्णपरम्परया कन्नौज की राजसभा में चली आ रही होगी।

स्वयंवर के प्रसंग में कई अनावश्यक विस्तारों के साथ एक अरुचिकर विस्तार सरस्वती के वर्णन का भी है। कवि की पौराणिक बुद्धि के अनुसार समस्त भूमण्डल एवं अन्य द्वीपों के इतने राजा स्वयंवर-सभा में पधारे थे जिनका वर्णन कोई मानुषी सखी नहीं कर सकती थी। अतः विष्णु ने सरस्वती को भेजा कि वह दमयन्ती की सखी बने और राजाओं का वर्णन कर उसको स्वयंवर में सहायता प्रदान करे। सरस्वती के सखी बनने का प्रसंग जैसे ही आया, कवि श्रीहर्ष का सारा पाण्डित्य—वेद, वेदाङ्ग, न्यायशास्त्र, बौद्धदर्शन, मीमांसा आदि का विवेक जाग पड़ा। कवि ने सरस्वती के अंगों का सौन्दर्य-वर्णन करने में समस्त दर्शनों एवं पाण्डित्य की अन्य मान्यताओं को अपनी सूक्तिमयी कल्पनाओं में पिरो दिया है यह वर्णन इतना विस्तृत तथा उदात्त हो गया है कि दमयन्ती का वर्णन फीका लगने लगता है। इस वर्णन का प्रसंग दसवें सर्ग में छन्द ७० से ९० तक है। इस वर्णन के प्रसंग को पढ़ कर तथा सतरहवें सर्ग में कलि के साथ देवों के शास्त्रीय विवाद का अध्ययन कर यह लगता है कि इस सुकुमार काव्य की रचना के समय कवि श्रीहर्ष को जब तब पाण्डित्य का प्रेत आक्रान्त कर लेता है और वह मुख्य विधेय को छोड़कर अपने मन की कहने लगता है। 'पाण्डित्य का प्रेत' इसलिए कहना पड़ रहा है कि वह सब अप्रासंगिक तथा अव्यवहारिक है और कथा-रस की मुख्यधारा को बीच-बीच में विलुप्त करता रहता है।

कवि ने सरस्वती को विष्णु की आज्ञा से दमयन्ती की सखी बनाकर काव्य को मानवीय संवेदनाओं से अलग कर दिया है और उसे एक पौराणिक विस्मय की रचना बना दिया है। सखी रूपी सरस्वती की जो लोकत्तर तस्वीर कवि ने खींची है, उसे पढ़कर केवल विस्मय हाथ लगेगा, मनोभावों से संगम करनेवाला कथा-रस नहीं शेष रहता है। सरस्वती के अद्भुत सौन्दर्य के एक-दो पक्ष देखिए—

मध्येसभं साऽवततार बाला गन्धर्वविद्याधरकण्ठनाला।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा ॥

भ्रुवौ दलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तद्बिन्दुना भालतमालपत्रम्।
तदर्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्चीनिक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये॥

(नैषध १०।७४, ८६)

अर्थात् सरस्वती बाला स्त्री (सखी) के रूप में सभा के बीच अवतरित हुई। उसका कण्ठ गान-विद्या से रचित था, तीनों वेद उसके उदर की त्रिवली थे, साहित्य के भाव और रस तरंगित होते हुए उसकी चितवन में समाये थे। ॐ के दो खण्ड उसकी दोनों भौहें थीं, ऊपर का बिन्दु भाल का तमाल पत्र (तिलक) था, उसका अर्ध-चन्द्र सरस्वती की विपञ्ची (वीणा) को बजाने का कोणधनु था।

मानवीय प्रेम तथा रति-भावों के उत्सव में ज्ञान के उच्च मान-दण्ड वेद तथा ओङ्कार किसी न किसी रूप में उपस्थित हो रहे हैं, यह सब कवि के कुण्ठित रूढिवादी युग की आत्मा का प्रलाप है जिसमें अपनी ऊँचाई प्रमाणित करने के लिए वेद या ब्रह्मा से किसी न किसी प्रकार अपना या अपने नायक का सम्बन्ध कल्पित करना कवि को अपेक्षित हो जाता था। महान् रचनाकार बाण तथा बिल्हण ने भी थोड़े-बहुत-रूप में इस रूढि और कुण्ठा से अपने को ग्रसित किया है।

कथावस्तु में जिन अवान्तर प्रसंगों की कल्पना कवि ने की है उनमें प्रथम सर्ग में हंस का प्रसंग कथा से अवान्तर होते हुए भी काव्य के कथा-रस को विरस नहीं करता। किन्तु सतरहें सर्ग में कलि और उसके अनुयायियों का जो प्रसंग आया है एवं उनके साथ देवों की जो शास्त्रीय आलोचना एवं प्रत्यालोचना हुई है वह सब कथा से इतना भिन्न हो जाता है कि पाण्डित्य की उस क्रीडा-स्थली में कथा-रस की धारा निष्पन्द ही हो जाती है। इस सर्ग को इस काव्य से निकाल कर पाण्डित्य-पूर्ण संवाद से युक्त अलग कृति की संज्ञा दी जा सकती है। इस सर्ग में कुल २१८ छन्द हैं। यह निश्चित रूप से एक अलग कृति है। यह बात हमें स्मरण रखनी चाहिए कि २७९४ छन्दों में विशाल काव्य की रचना करने वाले कविवर श्रीहर्ष जहाँ सात द्वीपों का वर्णन स्वयंवर में कर जाते हैं, वहाँ वे अपने देश के भूगोल से परिचित नहीं हैं और यदि परिचित भी हैं तो उन्हें अपने देश की प्रकृति से प्रेम नहीं है। विदर्भ और निषध दोनों देशों का प्रसंग आया है पर कवि ने वहाँ के किसी पहाड़ और नदी का नाम तक नहीं लिया। विवाह करके लौटने के बाद जब कलि उनके पीछे लगा और उनकी राजधानी में आया तो उसने उनके उद्यान में एक पेड़ पर निवास किया। उसने बहुत से पेड़ लता, गुल्म आदि देखे पर उसने निवास बहेड़े के पेड़ पर किया,[1] और जैसे श्रीहर्ष ने भी केवल उस बहेड़े के पेड़ से अपना परिचय प्रकट किया। चिन्तामणि के मन्त्र से सरस्वती की सिद्धि प्राप्त करनेवाला कवि कदाचित् तान्त्रिक दृष्टि से इस बहेड़े का उल्लेख यहाँ

---

१. नैषध १७।२०८ अथ सर्वोद्भिदासत्ति-पूरणाय स रोपितम्।
बिभीतकं ददर्शैकं कुटं धर्मेऽप्यकर्मठम्।।

करता है। बात त्रेता-युग की थी। इस लिए जहाँ कलि के निवास-वृक्ष बहेड़े का उल्लेख किया, वहाँ उसे उन वृक्षों, पर्वतों और नदियों का दर्शन अपनी वाणी में कराना चाहिए था जिससे देवों की प्रिय धरित्री इस भारतभूमि की विभूति फैल रही थी। किसी भी पर्वत और नदी का नाम न लेना कवि के संकुचित दृष्टिकोण का पारिचायक है जिससे यह सिद्ध होता है कि उसकी गति केवल कन्नौज-नरेश की राज-सभा तक ही है। राज-सभा से अन्यत्र बाहर की भारत भूमि से वह कुछ भी परिचित नहीं है। दूसरी ओर कवि अपने देश-काल से पूर्णरूप से आक्रान्त है लेकिन वह ऐसा आक्रान्त है कि उसकी दृष्टि न तो आक्रान्ता काल को समझ पाती है और न ही उस भूमि के दर्शन में उसकी दृष्टि रमती है जिससे वह काल गतिमान् हो रहा है।

पहले सर्ग में हंस का प्रसंग अवश्यमेव मर्म-स्पर्शी है। हंस को राजा पकड़ लेता है तब वह यह समझ ही जाता है कि राजा हमारे सुवर्ण पंखों के लोभ में मेरी हत्या कर देगा। इसके लिए वह राजा को धिक्कारता है। तुम इस लालच में क्यों हो? तुम स्वयं लक्ष्मी के रत्नाकर हो, इन तुषार सीकरों से तुम्हारा क्या होगा? भला, जिसके राज्य में जल में उत्पन्न होनेवाले पौधों के फल और मूल से मुनि के समान मेरे जैसा जीवन व्यतीत करनेवाला प्राणी दण्ड का भागी बन रहा है, ऐसे भूमिपति से यह पृथ्वी क्यों नहीं लज्जित होती—

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान्॥
फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते॥

(नैषध १।१३०, १३३)

यह तो कवि ने राजा के आदर्श और राजनीति पर टिप्पणी की, जो काव्य-वाणी में मर्मस्पर्शी बन गयी। इसके आगे जब वह हंस के विलाप को लिखने लगता है तब उसके जीवन की कुछ गहरी स्मृतियाँ उस हंस के स्वर में मुखर हो जाती हैं। श्रीहर्ष संभवतः माता के एक पुत्र थे। पिता उनके लड़कपन में मर चुके थे। उस संकट की स्मृति उनको है। आगे हंस जैसा ही उनका भी जीवन है। वृद्ध माता है, पत्नी है, छोटे बच्चे हैं। हंस की विपत्ति जैसी अपनी पूर्व स्थिति की स्मृति कर करुणा की गहरी अनुभूति में वह डूब जाता है। उसने हंस के माध्यम से पुत्र की प्रतीक्षा में माता और प्रिय की प्रतीक्षा में प्रियतमा के उत्सुकता-भरे

क्षणों की याद की है। प्रतीक्षा के अनन्तर उन्हें जो मर्मान्तिक उत्तर मिलेगा, उसी करुणा में हंस या उसकी संभावित स्थिति में कवि रोता है—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो।
मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः सुतशोकसागरः॥
मदर्थ-सन्देशमृणाल-मन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये! स कीदृग्भविता तव क्षणः?॥

(नैषध १।१३५, १३६, १३७)

जो भी हो, नैषध काव्य में हंस का यह प्रसंग कवि की लालित्य-सृष्टि का अनुपम उदाहरण है। शायद यह इसलिए है कि हंस के माध्यम से इसमें स्वयं कवि की आत्मा अभिव्यक्त हुई है।

इसके अनन्तर अब हम सूक्ति-कल्पनाओं को इस कसौटी पर देखेंगे कि उनके द्वारा कवि ने किस प्रकार की और कितनी मात्रा में काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि की है। काव्य-रचना में कवि के लिए यह एक सामान्य-सिद्धान्त है जो आदिकवि से लेकर कालिदास तक और कालिदास से बाण तक तथा तब से लेकर आज तक चला आ रहा है और जिसको हम किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकते; वह सिद्धान्त यह है कि वही कवि काव्य में लालित्य की सृष्टि करने में समर्थ होगा जो कवि जिस देश में पैदा हुआ है उसने उस देश के नदी, गाँव, निर्झर में, पर्वत, वन, उपत्यका में, वहाँ के ऋतु और काल में, पशु-पक्षियों में अपने को जब-तब खो दिया हो, उनमें विलीन हो गया हो। इस सिद्धान्त की चरितार्थता वह जानता है जिसने कवि की रचना-प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। कविवर श्रीहर्ष के लिए यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। उनके जीवन की दो विशेषताएँ हैं, वे सदा राज-सभा में विलीन रहे, खोये रहे और पाण्डित्य के शिखर पर बैठने का दर्प उन्हें सदा बना रहा। ये दोनों बातें काव्य में लालित्य की सृष्टि करनेवाले के लिए विपरीत धर्म हैं। अतः उनकी सूक्तियों की कल्पना हमारे मन पर अपना कोई चिह्न नहीं छोड़ती, केवल बुद्धि के आकाश में मँडराती रह जाती हैं। इस निदर्शन में कुछ उदाहरण लीजिए—

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्ग-जलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराःशिरस्थितम्॥

(नैषध १।१६)

कवि नल के केशों का वर्णन कर रहा है, कहता है कि जिस राजा नल ने सुमेरु पर्वत को तोड़कर याचकों को सम्पूर्ण रूप से समर्पित नहीं कर दिया और संकल्प का जल लेते-लेते सिन्धु को मरुस्थल नहीं बना दिया ये दोनों बातें उस नल के अपयश का कारण थीं। यही अपयश उसके शिर पर दो भागों में बँटे सँवारे हुए काले केश हैं।

इसी प्रकार नल के वर्णन में एक दूसरी उक्ति है—

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥
(नैषध १।१४)

अर्थात् राजा नल के ओज और यश के रहते सूर्य और चन्द्रमा की कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिए ब्रह्मा जब-जब सोचता है कि ये अनावश्यक हैं तो उनको वृत्ताकार रेखाओं में घेर देता है। (यहाँ कवि प्रकृति के उस दृश्य की ओर संकेत कर रहा है जब वर्षा-काल में सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर कभी-कभी मण्डल बन जाता है।)

सोने का सुमेरु पर्वत कभी समाप्त नहीं हो सकता, न सिन्धु मरुस्थल बन सकता है, यदि ऐसा हो जायेगा तो पृथ्वी ही नहीं रहेगी। सूक्ति की ऐसी कल्पना जो आधार को ही समाप्त कर दे, सौन्दर्य की सृष्टि क्या करेगी? तथा दूसरे उदाहरण में जो बात कही गयी है वह व्याप्ति के विरुद्ध है। आज नल के ओज और यश की बात अतीत हो जाने पर भी सूर्य और चन्द्रमा में कुण्डलना को रेखा बनती ही है। इस उक्ति से नल के ओज और यश का कोई सौन्दर्य सामने नहीं आता, केवल गणित की रेखा खींच दी जाती है।

कवि ने दमयन्ती के रूप का वर्णन तीन प्रसंगों में तीन बार प्रस्तुत किया है। द्वितीय सर्ग में हंस नल से दमयन्ती के रूप का वर्णन करता है। सातवें सर्ग में दूत रूप नल ही उसके सौन्दर्य का द्रष्टा बनकर नखशिख के रूप में उसके सौन्दर्य का विवरण देता है। दशम सर्ग में सरस्वती के साथ स्वयंवर सभा में आती हुई दमयन्ती के रूप का दर्शन राजा-गण करते हैं, वहाँ भी कवि उसके रूप का चित्रण करता है। पर अपनी ऊँची कल्पनाओं से उस रूप को इतना अधिक आकलित करता है कि उसके मोहक सौन्दर्य की छवि कहीं भी उभर कर सामने नहीं आती। कल्पनाओं का संवर्त ही पाठक के सामने घिर उठता है। नारी का सौन्दर्य पुरुष के किस भाव की तृप्ति करता है अथवा किस अभाव की पूर्ति करता है, कवि श्रीहर्ष कदाचित् इस तथ्य से अपरिचित हैं, यद्यपि यह तत्त्व या तथ्य सामान्यतया संसार

में गोचर है पर इसका ज्ञान गूढ़ और असामान्य है। यदि श्रीहर्ष इस तत्त्व के वेत्ता होते तो राजहंस द्वारा नल से दमयन्ती की प्रशंसा में ऐसी सूक्ति न कहलाते—

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी, स्व-वनी सम्प्रवदत्पिकापि का॥
(नैषध २।४५)

हंस नल से कह रहा है कि राजन् ! तुम्हारा यह रूप उस दमयन्ती के विना बन्ध्य वृक्ष के उस पुष्प के समान है जिसमें फल नहीं लगता, सम्पत्तियों से भरी तुम्हारे राज्य की यह धरती भी तुम्हारे लिए व्यर्थ है, और यदि वह दमयन्ती नहीं है तो कोकिल से कूजित तुम्हारा उपवन भी किस काम का ?

इस उक्ति में नारी-सौन्दर्य का अत्यन्त हेय आकलन किया गया है। कवि ने उसे केवल भोग की वस्तु माना है। कवि की दृष्टि में नारी पुरुष के यौवन-रूप फूल का फल है, यह अत्यन्त ही विकृत भावना की उपमा है। कहा तो यह जाता है कि पुरुष और नारी दोनों पुष्पों का फल या बीज पुत्र होता है। छन्द का उत्तरार्ध यह भाव प्रकट कर रहा है कि यदि ऋद्धि और सम्पत्ति है, कोकिल से कूजित उपवन है तो इन सब का पूरा आनन्द रूपवती रमणी के विना नहीं लिया जा सकता है।

कविवर श्रीहर्ष का दमयन्ती के सौन्दर्य का दर्शन न्यायशास्त्र का अनुमान-खंड है, कवि सौन्दर्य का कोई भाव-बिम्ब न उपस्थित कर रूप के अद्वितीय होने के हेतुओं का विवरण उत्प्रेक्षा आदि के माध्यम से देता है, जिनके समझने में हमारी बुद्धि का विलास होता है, मन का रमण नहीं। हंस राजा नल से दमयन्ती के सौन्दर्य-वर्णन की भूमिका प्रस्तुत करता है। कह रहा है कि तड़ागों में कमल के नाल दण्ड का भोजन करने तथा विहार करने के लिए अनेक जनपदों में घूमते हुए मेरी आँखों के सामने वह सुन्दरी दमयन्ती दिखायी पड़ी थी, जिसको जब मैंने पहली बार देखा तो इस संशय के साथ देखा कि यह है या नहीं, क्योंकि उसका उदर-भाग अत्यन्त कृश था—

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी॥
(नैषध २।४०)

तब मैंने यह भी विचार किया कि स्वर्ग की अप्सराओं से भी अधिक सुन्दरी इस दमयन्ती का पति उस विधाता के मन में कौन होगा—

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम्।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम्॥
(नैषध २।४१)

मैं अनुमान करता रहा, और सभी युवकों में पूर्वपक्ष (दोष-दर्शन) को दूर करने में असमर्थ होकर तुम में ही उस रमणी के पतिरूप-सिद्धान्त पक्ष को स्थापित किया—

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम्।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्॥
(नैषध २।४२)

और आज जब तुमको मैंने देखा, तब मेरे पहले के वे संस्कार जाग गये और बहुत पहले देखी गयी पवित्र मुस्कानवाली वह रमणी (दमयन्ती) मेरे स्मृति-पथ में छा गयी है—

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता॥
(नैषध २।४३)

दमयन्ती के बड़े-बड़े नेत्रों ने हरिणों के नेत्र की शोभा को जीत लिया इसलिए वे हरिण तन्द्रा में आँखें मूंदकर अपने खुर-पुट से उन्हें खुजला कर सान्त्वना प्रदान करते हैं—

त्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान् मृगाः।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात्॥
(नैषध २।२१)

जब नल ने स्वयं दमयन्ती को देखा तब उसके सौन्दर्य-चित्रण में हंस की अपेक्षा दृष्टि की भिन्नता होनी चाहिए थी। कम से कम तर्क एवं अनुमान की बातें नहीं आनी चाहिए थीं यतः नल उसका मनचाहा प्रिय है (यद्यपि उसने अपना रूप छिपा लिया है दमयन्ती उसको जान नहीं पाती, किन्तु इससे क्या नल तो दमयन्ती को जान-पहचान रहा है और ऐसी अवस्था में जब) दमयन्ती भी उसकी मनचाही प्रिया है तब उसके अनुपम सौन्दर्य का साक्षात् दर्शन कर वह उसके नख-शिख-वर्णन में कैसे जुट जाता है, वह उसके एक ही किसी अंग के दर्शन में अपने को देर तक क्यों नहीं विमुग्ध कर देता, इतना अधिक विस्तृत वर्णन जो सातवें सर्ग में हुआ है वह इस बात का प्रमाण बन जाता है कि श्रीहर्ष के नायक नल में

पुरुष के उस तेज का अभाव है जो नारी के सौन्दर्य को एक साथ आँख और मन से पीकर न तो तृप्त होता है, न तो समग्र रूप से पी पाता है। कवि श्रीहर्ष से अधिक नारी-सौन्दर्य का द्रष्टा तो गाथा-सप्तशती का लोक-कवि है जो यह लिखता है कि नायिका के जिस अंग पर दृष्टि गयी उस अंग के सौन्दर्य-दर्शन में ही युवक लुब्ध रह गये, समग्र रूप से उसके सौन्दर्य को कोई नहीं देख पाया।[१] कवि सौन्दर्य के दर्शन में तर्क तथा ज्ञान की बात करता है जो धरातल के भिन्न हो जाने से विरस हो जाता है। सौन्दर्य -बोध की एक उक्ति देखिए—

प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा कापि द्विजेनोपनिषत्पिकेन।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः॥
(नैषध ७।४८)

कवि का तर्क है कि वृक्षों से मंजरी रूपी भिक्षा खाकर द्विज (पक्षी) पिक इस दमयन्ती के मुख-रूपी चन्द्रमा (गुरु) से कामदेव के अद्वैतवाद की कोई उपनिषत् क्या नहीं पढ़ता है? अर्थात् पढ़ता ही है। कहने का भाव है कि दमयन्ती के मुख को देखकर सारी सृष्टि कामदेवमय मालूम पड़ती है, कोकिल का कूजन उसके मुख को ही देखकर आरम्भ हुआ। किन्तु ऐसी बात कहना केवल एक सनसनीखेज समाचार है, इसे ऐसी काव्य-रचना नहीं कह सकते जिसमें शब्द-अर्थ किसी अनुपम वस्तु-शोभा को सँजोये हों और उनसे शोभा की अतिशयता के कारण लालित्य बिखरा पड़ रहा हो।

कवि सर्वत्र अनुमान-न्याय की सरणि पर अपनी तर्कशुद्ध उक्तियाँ कहता जाता है। आश्चर्य है कि ये तर्क-भरे अनुमान प्रिया के सौन्दर्य का लोलुप स्वयं भी अद्वितीय सुन्दर नल कर रहा है। नल कहता है कि दमयन्ती के मुखचन्द्र से अन्धकार पराजित हो कर आगे तिरछे जो हटा था, वही पीछे इसके शिर पर केश के रूप में विद्यमान है। मयूरों ने जब अपने पिच्छभार से दमयन्ती के केशों की तुलना करनी चाही तब ब्रह्मा ने केशों को श्रेष्ठ बताकर उनको पुष्पमाला से अभिनन्दित किया और मयूरपिच्छ को अर्धचन्द्र देकर बाहर किया—

---

१. गाथा-सप्तशती ३।३४

जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अंगम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठं॥

अस्या यदास्येन पुरस्तिरश्च तिरस्कृतं शीतरुचान्धकारम्।
स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमस्ति बद्धम्॥
अस्याः कचानां शिखिनश्च किन्नु विधिं कलापौ विमतेरगाताम्।
तेनायमेभिः किमपूजि पुष्पैरर्भर्त्सि दत्त्वा स किमर्धचन्द्रम्॥
(नैषध, ७२१, २२)

दमयन्ती की वाणी अमृत जैसी मधुर इसलिए है कि सरस्वती स्वयं इसके कंठ में निवास कर विपञ्ची (वीणा) बजाती रहती हैं, वही मृगनयना दमयन्ती के मुख से वचन की माधुरी बन कर सुनायी पड़ता है—

कण्ठे वसन्ती चतुरा यदस्याः सरस्वती वादयते विपञ्चीम्।
तदेष वाग्भूय मुखे मृगाक्ष्याः श्रोतुः श्रुतौ याति सुधारसत्वम्॥
(नैषध ७।५०)

ऐसी उक्तियों से दमयन्ती के सौन्दर्य को कवि ने हीन कर दिया है, जब सरस्वती ही उसके कण्ठ में निवास करती है तब दमयन्ती के कण्ठ-स्वर की प्रशंसा क्या करनी है। होना तो यह चाहिए था कि कवि ऐसे वस्तु-भाव का विधान करता जिससे सरस्वती के कण्ठ की माधुरी दमयन्ती की वचन-माधुरी से पराजित हो जाती।

दशम सर्ग में भी ऐसी ही अनुमान-गर्भित उक्तियाँ कवि दमयन्ती के सौन्दर्य-चित्रण में प्रस्तुत करता है। ऐसी उक्तियों में किसी प्रकार के भाव-बिम्ब के दर्शन हमें नहीं होते। केवल वचन-चातुरी दिखाई पड़ती है। एक-दो प्रसंग देखिए—दमयन्ती के नेत्र कमल से अधिक सुन्दर हैं, यह बात भ्रमर भली भाँति जानते हैं, इसीलिए ब्रह्मा ने नेत्र की पुतलियों के रूप में भ्रमर-मिथुन को स्थापित कर दिया है। लोग इन भ्रमर-दम्पतियों से इस बात को पूछ लें—

एतद्दृशोरम्बुरुहैर्विशेषं भृङ्गौ जनः पृच्छतु तद्गुणज्ञौ।
इतीव धात्राऽकृत तारकालि स्त्रीपुंसमाध्यस्थ्यमिहाक्षियुग्मे॥
(नैषध १०।१२१)

कवि कहता है कि पद्मिनी के कमल तो शम्बरजात माया हैं, वास्तविक कमल तो दमयन्ती की हथेली हैं। कण्टक-युक्त कमल-नाल से निकलने के कारण तीक्ष्ण नखों से युक्त उत्कण्टक कमल, दमयन्ती की हथेली है। कमल-पुष्प तो उत्कण्टक

होता नहीं। (इसलिए कैसे माना जाय कि कमल उत्कण्टक नाल से उत्पन्न हुआ है)—

छद्मैव तच्छम्बरजं बिसिन्यास्तत्पद्मनस्यास्तु भुजाग्रसद्म
उत्कण्टकादुद्गमनेन नालादुत्कण्टकं शातशिखैर्नखैर्यत्॥

(नैषध १०।१२४)

कविवर श्रीहर्ष ने अपनी इन्हीं उक्तियों के बल पर अपने इस काव्य को शृंगार-रूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है। नारी के सौन्दर्य-चित्रण में उनके शब्द-अर्थ लालित्य का कितना बोध कराते हैं इसके नमूने ऊपर दिखाए जा चुके हैं।

किन्तु यह सब लिखने के पश्चात् भी आलोचक को यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि कवि श्रीहर्ष में कवित्व-प्रतिमा की प्रकाश-किरणें विद्यमान हैं। यह अवश्य है कि पाण्डित्य और तर्क ने उन्हें आक्रान्त कर तिरोहित कर दिया है। लेकिन जहाँ पर वे प्रकाश-किरणें उन्मुक्त हैं ऐसे स्थलों पर कतिपय लालित्यमय उक्तियाँ भी कवि ने कही हैं। उनकी सराहना प्रत्येक आलोचक को करनी चाहिए। कुछ उदाहरण हैं, नल ने अपना वेष छिपाकर दमयन्ती के पास पहुँचकर इन्द्र आदि का दूत-कर्म पूरा किया और अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा कि तुम इन्द्र, यम आदि के न चाहने पर किसी प्रकार से नल को वरण नहीं कर सकती, अतः मेरी सलाह मान कर इनमें से किसी देव का वरण करो। दमयन्ती बहुत दुःखी हुई, उसने कपट वेषधारी नल से कहा कि तुम निश्चित रूप से यमदूत बन गये हो। फिर वह उद्विग्न और दुःखी हुई तथा अत्यन्त ही भाव-गर्भित उक्ति में बोली—

तमर्चितुं मद्वरणस्रजा नृपं स्वयंवरः सम्भविता परेद्यवि।
ममासुभिर्गन्तुमनाः पुरःसरैस्तदन्तरायः पुनरेष वासरः॥
तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी।
नखैः किलाख्यायि विलिख्य पक्षिणा तवैव रूपेण समः स मत्प्रियः॥

(नैषध ९।६५,६६)

हे दूत! क्या कहूँ? उस राजा नल को अपनी वरण की माला से अभिनन्दित करने के लिए स्वयंवर कल होगा। उसमें एक दिन की देर है। लेकिन तुमने जो समाचार सुनाया कि इन्द्र आदि देव अपनी माया से राजा नल को नहीं वरण करने देंगे, यह जान कर अपने उस मनचाहे प्रिय के वियोग में मेरे प्राण आज ही विदा हो जाना चाहते हैं। आज का दिन मेरे प्राणों को समाप्त कर कल के स्वयंवर

के लिए विघ्न बन रहा है। इसलिए तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि तुम मेरे ऊपर दयालु बनो और आज तुम मेरे इस भवन में विश्राम करो, तुम्हें देखते हुए मैं जीवित रहूँगी, मरूँगी नहीं, आज के विघ्न-स्वरूप इस दिन को बिता दूँगी। ऐसा इस लिए कह रही हूँ कि उस हंस पक्षी ने अपने नखों से मेरे प्रिय नल का जो चित्र बनाया था मेरा वह प्रिय तुम्हारे ही समान रूप-सौन्दर्य का है। इसलिए मैं तुम्हें देखती हुई अपने प्रिय के दर्शन के आभास में जीवित रह जाऊँगी।

यहाँ नारी-हृदय की अपने प्रिय के प्रति उत्कट प्रेम की सहज व्यञ्जना हुई है और वह कई तरह से ललित-सन्निवेश से अभिनिविष्ट है। यद्यपि दमयन्ती यह कहती है कि हंस ने अपने नख से नल का जो चित्र बनाया था तुम उसके समान हो और तुम्हें देखते हुए मुझे प्रिय-दर्शन का आभास होगा, पर इस अर्थ-बोध का दूसरा ललित और सहज पक्ष भी विद्यमान है। वह यह है कि कपट रूप में ही सही नल वहाँ उपस्थित है, इसलिए मन का अन्तर्मन दमयन्ती को किसी न किसी रूप में भाव-विभोर कर ही देगा जो अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। क्योंकि जब जन्मान्तरीय संस्कारों से उत्कण्ठित होने की बात कालिदास ने स्वीकार की है[1] तो यहाँ पर तो प्रेम में डूबा हुआ अन्तर्मन प्रत्यक्ष विद्यमान है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए,—बालारूपधारिणी सरस्वती के सौन्दर्य का चित्रण कवि कर रहा है—

द्विकुण्डली वृत्तसमाप्तिलिप्याः कराङ्गुली काञ्चनलेखनीनाम्।
कैश्यं मसीनां स्मितभाः कठिन्याः काये यदीये निरमायि सारैः।
(नैषध १०।८७)

अर्थात् ब्रह्मा ने सरस्वती के रूप-निर्माण में कान के दोनों कुण्डल बनाने में वर्णों के समाप्ति-सूचक विसर्ग या शून्याकार अङ्क का सार ग्रहण किया। हाथों की अंगुलियों को बनाने में सुवर्ण की लेखनी का सार, केशों की रचना में स्याही का सार और मुख की मुसकान को खड़िया के सार-तत्त्व से रचा।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक ५।२
रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर—सौहृदानि॥

सरस्वती का प्रकृत सौन्दर्य उद्भावित करने में कवि को इस उक्ति में सफलता मिली है। वर्ण, लेखनी, स्याही और खड़िया के सार तत्त्वों की कल्पना सरस्वती के सहज रूप को उजागर करती है, क्योंकि वे विद्या की देवी हैं।

दमयन्ती जब स्वयंवर-सभा की ओर बढ़ी तब उसके स्वयंवर सभा की ओर आने में उसकी गति का क्रम कैसे प्रकट हुआ, इसका स्वाभाविक वर्णन कवि करता है—

दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम्॥

(नैषध १०।९३)

राजाओं में दमयन्ती के अद्भुत रूप को देखने का कौतूहल-समुद्र पहले आगे आनेवाली दासियों को ही देखकर उत्पन्न हुआ, क्रमशः इसके अनन्तर आनेवाली सखियों को देखकर वह बढ़ने लगा और जब दमयन्ती आ गयी तब उसके अंगों में उस समुद्र की ऊँची लहरें उठने लगीं।

दर्शकों के कौतूहल का यह बड़ा ही स्वाभाविक चित्र हैं। दमयन्ती के स्वयंवर-सभा में आने का क्रम दासियों और सखियों के बाद ही होगा। पर दर्शकों का कौतूहल दासियों के आने के साथ ही बढ़ने लगा। यहाँ पर कवि ने मन में सौन्दर्य-पिपासा की ठीक पहचान की है।

अब कवि की एक मनोरम सुकुमार उक्ति देखिए—

श्रृङ्गार-भृङ्गारसुधाकरेण वर्णस्त्रजाऽनूपय कर्णकूपौ।
त्वच्चारुवाणीरसवेणितीर-तृणानुकारः खलु कोषकारः॥

(नैषध २२।५७)

यहाँ नल दमयन्ती से प्रेमालाप कर रहे हैं और उससे आग्रह कर रहे हैं कि तुम कुछ बोलो, और मैं सुनूँ। वे कहते हैं कि हे प्रिये! तुम अपने मुख की वर्णमाला से, जो श्रृंगार का स्वर्ण-कलश रूपी चन्द्रमा है, मेरे कर्ण रूपी-कूपों को भर दो। क्योंकि देखो, जो प्रसिद्ध मीठा गन्ना (कोषकार, ईख) होता है वह तुम्हारी ललित-वाणी के रस से बहती नदी के तट पर होनेवाले तृण के समान है, फिर तुम्हारे वाणी-रस का क्या कहना?

कविवर श्रीहर्ष का काल बारहवीं शताब्दी का मध्य है और वे कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र और जयचन्द्र की राज-सभा के कवि थे, ये दोनों बातें इतिहास-प्रसिद्ध

हैं, इनके बारे में कोई दूसरी बात नहीं कहनी हैं। श्रीहर्ष के जन्मस्थान के सम्बन्ध में इतिहासकार कोई ठीक उल्लेख नहीं कर पाते। कोई-कोई उन्हें काव्य-प्रकाश के लेखक मम्मट का भानजा भी कहते हैं। पर ये सब बातें लोक-उदन्त हैं, इनमें इतिहास का कोई तथ्य नहीं है। श्रीहर्ष के नैषध काव्य को पढ़कर और उनकी तर्कमयी उक्तियाँ देखकर ऐसा लगता है कि वे न्याय-दर्शन से बहुत प्रभावित थे। उनमें एक ही विषय वस्तु को बढ़ा-चढ़ा कर दस प्रकार से कहने की जो प्रवृत्ति है यह उनमें गौड देश के प्रभाव को लक्षित करती हैं।[1] उनके काव्य में गौड मार्ग के गुणों का दर्शन बहुशः होता है। इससे यह लगता है कि श्रीहर्ष का जन्म काशी के पूर्व गौड़ (आज के भोजपुर भाषाभाषी) देश में हुआ था। उनके पूर्वज भी वहाँ के निवासी थे। काशी में ही गहड्वाल नरेश की राज्य-सभा में उन्होंने प्रथम बार सम्मान प्राप्त किया। उसके बाद वे कन्नौज आये। अपने पाण्डित्य के प्रसंग में उन्होंने कश्मीर की यात्रा भी की, यह सत्य है। हम जो देखते हैं वह यह है कि उनके जीवन के सम्बन्ध में यह बात स्वीकार की जानी चाहिए कि वे उस जनपद में जन्म पानेवाले और रहनेवाले थे, जहाँ सत्तू के भोजन को बहुत सामाजिक आदर प्राप्त था। क्योंकि उन्होंने कुण्डिनपुर में जो मध्य भारत के दक्षिणी हिस्से में है, सत्तू की चक्कियाँ चलती देखी हैं और सत्तू की सोंधी महक का आनन्द लिया है। हमारी समझ में उनका यह सत्तू भोज-पुर-आरा का है—

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानद-सक्तु-सौरभैः।
कलहान्न घनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः॥
(नैषध २।८५)

हंस कुण्डिनपुर का वर्णन कर रहा है। पथिक लोग वर्षा-काल में घर लौट रहे हैं, रास्ते में कुण्डिनपुर की बाजार में चक्कियों में सत्तू पिसा जा रहा है। उसकी सोंधी सुगन्ध और घर्घर शब्द पथिकों को आकृष्ट कर रहे हैं दूसरी ओर ऊपर आकाश में बादल-गरज-गरज कर पथिकों को शीघ्र घर पहुँचने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। चक्कियों और मेघों की इसमें परस्पर प्रतिद्वन्द्विता है कि कौन अधिक प्रेरित करता है, उस कलह के फल-स्वरूप घर्घर शब्द आज भी मेघों में बना हुआ है।

---

१. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरम्॥ (हर्षचरित)

जो भी हो इस उक्ति के फल-स्वरूप हम श्रीहर्ष को उस जनपद का निवासी स्वीकार करते हैं जहाँ खान-पान में सत्तू अधिक सम्मानित है। ऊपर के छन्द में सत्तू का उल्लेख कवि के मन:संस्कार का उल्लेख है।

अब इतना सब कह चुकने के बाद कविवर श्रीहर्ष को किस कोटि का कवि होने की मान्यता दी जाये, ऐसी उत्सुकता संस्कृत-काव्य-पाठकों को हो सकती है। यहाँ पर सारभूत दो-तीन बातें कहकर लेख को समाप्त किया जाता है। पहली बात यह है कि श्रीहर्ष कालिदास की छाया नहीं छू पाते, और न वे अमृत काव्य के रचयिता हैं।

दूसरी बात यह है कि उनको कवि की अपेक्षा सूक्तिकार की संज्ञा दी जानी चाहिए। उनके पाण्डित्य ने उनकी कवि-प्रतिभा को बहुत-कुछ निस्तेज कर दिया है।

तीसरा प्रश्न उठता है कि कवि श्रीहर्ष की यह रचना क्या उपेक्षित की जाने योग्य है और क्या भविष्य में श्रीहर्ष को कवि-रूप में सम्मान मिलने में कठिनाई होगी? इन सब बातों का उत्तर 'न' के रूप में है। जिन आलोचकों ने श्रीहर्ष की आलोचना की है, या हमारे जैसे जो दूसरे आलोचक श्रीहर्ष के प्रति आलोचना-दृष्टि से प्रेरित हैं, इन सब का प्रभाव श्रीहर्ष के पक्ष में जायेगा। ऐसी सारी आलोचनाओं के विपरीत भविष्य में भी काव्य-पाठक नैषध-काव्य को पढ़ते रहेंगे, आनन्द के लिए पढ़ेंगे और आलोचना करने के लिए पढ़ेंगे। ऐसा क्यों है, क्यों होगा? यह प्रश्न पूछा जा सकता है और इस प्रश्न का उत्तर हमें ढूँढ़ना चाहिए। श्रीहर्ष के पहले आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक और कुन्तक का वक्रोक्ति-जीवित दोनों ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। पर श्रीहर्ष के काव्य में ध्वनि या वक्रोक्ति सिद्धान्त का अभिनिवेश रचना के लालित्य को प्रकाशित नहीं करता। काव्य-रचना की जिन पद्धतियों और सिद्धान्तों के लिए कालिदास की प्रशंसा की जाती है उनमें से कोई भी श्रीहर्ष की काव्य-रचना में नहीं है। अत: हम श्रीहर्ष के कृतित्व को काव्य-रचना की संज्ञा नहीं देना चाहते। फिर भी जैसे कालिदास साहित्य की सुकुमार रचना के लिए सदा के लिए आदृत बने रहेंगे वैसे ही श्रीहर्ष की कृति नैषध का अध्ययन करनेवाले भी भविष्य में होते रहेंगे। इसका एक प्रबल कारण है, श्रीहर्ष में कवि-धर्म का अभाव है, पर उनमें विलक्षण रचना-धर्म है। उनकी रचना में कृतिकार का मन सहज रूप से खो गया है। और उसी के साथ उनका जीवन और युग, वह युग जो अपनी संस्कृति और अतीत के सम्मान से भ्रष्ट होकर धरातल पर गिर पड़ा था, सभी इस काव्य के अणुओं में खो गये हैं।

इस काव्य की तुलना चित्रकार के उस चित्र से की जानी चाहिए जिसने

किसी दुर्भिक्ष का सहज चित्र बनाया हो या नशे में चूर विलासियों की रेखाकृति रच कर उनके उल्लास का रेखांकन किया हो, और उस उल्लास की परिणति क्या होगी, इसका निर्णय चित्र के दर्शकों पर छोड़ दे। सहज वस्तु को देखने की ललक बुद्धि और मन दोनों को होती है। हम हरे-भरे पेड़ को देखकर प्रसन्न होते हैं लेकिन वही वृक्ष जब सूख जाय तो उस सूखे वृक्ष को देखकर भी हम भाव में डूबेंगे और उसकी हरियाली की याद करेंगे।[1] इसी का नाम रचनाकार का सहज धर्म है। काव्य-शास्त्र में इस सहज धर्म की चर्चा नहीं की गयी है, इसीलिए काव्यशास्त्र के ग्रन्थों को पढ़कर नैषध की लोक-प्रियता का कारण हम नहीं ढूँढ़ सकते। श्रीहर्ष का यह काव्य रचनाकार के इस सहज धर्म की ओर इंगित कर रहा है। इस सहज धर्म से युक्त सुकुमार और आनन्द की सृष्टि तो दर्शनीय होगी ही, किन्तु सहज धर्म से अभिव्यक्त अकाल की सृष्टि भी दर्शनीय होगी। श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' काव्य अपने अकेले कृतित्व में सात सौ से लेकर बारह सौ ईस्वी तक के इतिहास-काल के जीवन, धर्म, कर्म, कुण्ठा, आलस्य, अभिमान और अज्ञान को इस शालीनता से अपने में आत्मसात् किए हुए है कि इस लम्बे युग का कोई काव्य इस कृतित्व में इसकी समानता नहीं कर सकता। रचना किस वस्तु की है प्रश्न इसका नहीं है, कृतिकार उस रचना में अपने को कितना खोकर प्रवृत्त हुआ है तथा रचना की समाप्ति तक जिस अंश तक वह खो गया है, रचना उतनी सीमा तक उस दिशा में महान् है।



---

१. कुछ ऐसी ही याद कविवर मङ्खक को भी आयी थी जब उन्होंने कहा था—

> यातास्ते रससार–संग्रहविधिं निष्पीड्य निष्पीड्य ये
> वाक्तत्त्वेक्षुलतां पुरा कतिपये तत्त्वस्पृशश्चक्रिरे।
> जायन्तेऽद्य यथायथं तु कवयस्ते तत्र संतन्वते
> येऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशल्कोच्चयम् ॥
>
> (श्रीकण्ठचरित २८२)

५. गुण एवं काव्य-रचना

गुण शब्द का अर्थ है सत्त्व और शौर्य। जैसे व्यक्ति विशेष में उसके सत्त्व (महाप्राणता) और शौर्य अर्थात् शारीरिक कान्ति और प्रभावशाली व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं ऐसे ही काव्य की पदावली या कवि द्वारा किए गये शब्द-विन्यास में जो उसकी अर्थ-प्राणता को अभिव्यक्त करता हो, गुण संज्ञा से अभिहित किया गया। ज्ञातव्य है कि न्याय-दर्शन में द्रव्य के जिन २४ गुणों का उल्लेख होता है उनमें एक गुण शब्द भी है। यह आकाश का गुण है। काव्य के गुण को रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (१५० ई०) में शब्द-समय कहा गया है। शब्द-समय का अर्थ हुआ काव्य का शब्द-सिद्धान्त—

स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्दसमयोदारालंकृत-गद्य-पद्य (काव्य-विधान-प्रवीणे) न, प्रमाण-मानोन्मान-स्वर-गति, वर्ण्ण-सारस्वत्वादिभिः।

अर्थात् उस समय की गद्य-पद्य की रचना में स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कांत शब्द-सिद्धान्तों का विस्तार उनको अलंकृत करता था। इस प्रकार शब्द-विन्यास के विशिष्ट प्रयोगों के द्वारा काव्य-वाणी को अलंकृत करने की रुचि उन कवियों में जागृत हुई होगी जो विदग्ध-गोष्ठियों में या सारस्वत-समाजों में या राजा की कवि-सभाओं में अपनी काव्य-सूक्तियाँ सुनाकर उसके विचित्र शब्द-प्रयोग की ओर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहते रहे होंगे। काव्य-रचना में जिनकी रुचि होती थी या जो अपने को काव्य-जिज्ञासु मानते थे वे लोग इस शब्द-सौष्टव का विवेचन गोष्ठियों या सभाओं में करते थे। सारस्वत समाजों का उदय वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना के पूर्व हो चुका था इसलिए पहली शती ई० के पूर्व गुणों के सौन्दर्य से मण्डित काव्य-सूक्तियों की रचना का शुभारम्भ मान लेना चाहिए। चौसठ कलाओं में काव्य-रचना भी एक कला थी। एक हजार वर्ष

---

१. अमरकोश ३।३।४७

मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वशौर्यसन्ध्यादिके गुणः।

के इतिहास में इस कला के विभिन्न पक्ष देखने को मिलते हैं। इस कला की विशेषता कभी गुणों के प्रयोग में थी, कभी अलंकारों के प्रयोग में, कभी चित्रालंकारों के प्रयोग में कभी भावों और अर्थों के प्रयोग में जो भी हो यह बात हमें इतिहास के साक्ष्य पर ही स्वीकार करनी पड़ती है कि पहली शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी के बीच गुणों के शब्द-विन्यास से ललित काव्य-सुभाषितों की रचना का बोलबाला कवि-गोष्ठियों में रहा। और स्फुट, मधुर, लघु, कांति आदि इन शब्द-गुणों की प्रतिष्ठा काव्य-गोष्ठियों में भावकों द्वारा स्वीकार कर ली गयी, इसी का यह परिणाम रहा कि आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में काव्य के इस शब्द-सिद्धान्त का निरूपण काव्य के प्राण दश गुणों के रूप में किया। ऐसा लगता है कि शब्द-सिद्धान्त की यह प्रतिष्ठा विदर्भ देश अर्थात् वैदर्भ काव्य-गोष्ठियों में पहली बार की गयी। इसके अनन्तर इस शब्द-सिद्धान्त अर्थात् काव्य-रचना में गुण-सिद्धान्त के निरूपण के प्रति पक्ष एवं विपक्ष में प्रतिक्रियाएँ हुई। दाक्षिणात्य अर्थात् वैदर्भ कवियों ने और उनके साथ ही साथ पूर्व के गौड़ कवियों ने अपनी काव्य-रचना में इन गुणों के प्रयोग के द्वारा काव्य-रचना का एक नया चमत्कार खड़ा किया। काव्य-रचना के इस चमत्कार में सुष्ठु अर्थात् ललित शब्दों का प्रयोग मुख्य पक्ष है। इसीलिए इस काव्य-सिद्धान्त को उस युग में सुशब्दों का प्रयोग अर्थात् सौशब्द्य काव्य-सिद्धान्त कहा गया। इस सौशब्द्य काव्य-सिद्धान्त को दण्डी ने विशेष महत्त्व दिया और साधारण अलंकार—दीपक, उपमा, रूपक की अपेक्षा इनके निरूपण को पहले रख कर विशेष महत्त्व प्रदान किया।[१] दण्डी के अनन्तर काव्य-शास्त्र के औदीच्य आचार्य भामह ने इस गुण-सिद्धान्त के काव्य को सौशब्द्य काव्य की संज्ञा दी, उसे अर्थ-हीन उपेक्षित काव्य कहा। उन्होंने लिखा कि इस गुण-सिद्धान्त को माननेवाले लोग शब्दालंकारवादी हैं। ये लोग रूपक आदि अलंकारों को बाहरी सौन्दर्य कहते हैं संज्ञा क्रिया की व्युत्पत्ति युक्त विन्यास को ही वे वाणी का अलंकार मानते हैं और उनकी दृष्टि में वाणी का सौन्दर्य अर्थात् सौशब्द्य ही सच्चा काव्य है, अर्थ-सौन्दर्य रखनेवाले काव्य की रचना ऐसी श्लाघ्य नहीं होती। मैं समझता हूँ कि एक सौशब्द्य काव्य है और दूसरा अर्थवान् काव्य है दोनों का सम्मिलित चमत्कार ही काव्य का वास्तविक

---

१. काव्यादर्श २।३

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥

चमत्कार है। भामह के ऐसा कहने के विपरीत काव्य-रचना में सौशब्द्य काव्य-सिद्धान्त के प्रति काव्य-गोष्ठियों में बराबर अभिरुचि बढ़ती रही। वामन ने अपने काव्यालंकार में सूत्र में विस्तार से रीति और गुणों का विवेचन किया है और उन्होंने दण्डी द्वारा निरूपित गुण-सिद्धान्त की परम्परा को आगे बढ़ाया है, विकसित किया है। वामन के पश्चात ११वीं शताब्दी ई० में भोज और कुन्तक ने दण्डी की परम्परा को अग्रसर करते हुए काव्य-रचना में गुण-सिद्धान्त की सत्ता की खोज की और उसके विस्तार तथा सूक्ष्म सारवत्ता का अध्ययन किया। हमें यहाँ पर यह बात दृष्टि में रखनी चाहिए कि भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त के विवेचन, विश्लेषण के प्रयोग के दो देश-काल रहे हैं। एक देश-काल वह था जहाँ आचार्य दण्डी हुए और दूसरा देश-काल वह था जहाँ भामह हुए। दण्डी की परम्परा में भोज आते हैं और भामह की परम्परा में आचार्य कुन्तक आते हैं। किन्तु यह विचित्र बात है कि दण्डी के गुण-सिद्धान्त का बहुत अधिक साम्य कुन्तक के गुण-सिद्धान्त में पाया जाता है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। इन आचार्यों के द्वारा गुण-सिद्धान्त के विकास और काव्य-रचना में उसकी यथार्थता का जो निरूपण हुआ है उसका क्रमिक आकलन आगे किया जाता है। किन्तु यह आकलन हम करें, इसके पूर्व यह आवश्यक है कि शब्दों के ललित-विन्यास में क्या अर्थ उपेक्षित हो जाता है और जहाँ गुण-सिद्धान्त की बात आती है क्या वहाँ अर्थ की उपेक्षा हो जाती है? इस प्रश्न का पहले निराकरण कर लिया जाय।

जहाँ शब्द है वहाँ अर्थ है। अर्थ के बिना शब्द के प्रयोग की कल्पना नहीं की जा सकती। उसका कोई न कोई अर्थ होगा ही। अर्थ अपने आप में मूक है, जब तक उसे शब्द का माध्यम नहीं मिलता। हमारे प्राचीन आचार्यों ने शब्द की महिमा का निरूपण करते हुए वाणी के चार प्रकार बताए हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इनमें वैखरी वाणी ही श्रूयमाण शब्द रूप में हमारे सामने आती है और उसी के साथ अर्थ अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः यदि व्यवहारिक दृष्टि से इस पर विचार किया जाय तो ये प्रकारान्तर से अर्थ की चार कोटियाँ हैं। परा, पश्यन्ती और मध्यमा में अर्थ मूक है, वैखरी में वह अभिव्यक्त होता है।

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।१४-१५

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकार-भेदादिष्टं द्वयं तु नः॥

इसलिए अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता कैसे मानी जाय, वह केवल शब्द के साथ मूर्तिमान् होता है। हमारे मन और अन्तर्मन में अर्थ की चाहे जितनी गरिमा हो पर बाहर जब अभिव्यक्ति का क्षण आता है तब उसकी गरिमा शब्द के अक्षरों में विलीन हो जाती है। अर्थ प्रकाश अवश्य है पर वह शब्द की ज्योति में ही भासित हो रहा है। दण्डी ने ठीक ही लिखा है कि अगर यह शब्द की ज्योति संसार में दीप्त न होती तो यह तीनों लोक गहरे अन्धकार में डूबे रहते,[1] ऐसी बात वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि ने भी कही है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
(वाक्य० १।१२३)

अर्थात् संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो बिना शब्द के जाना जा सके। अतः संसार का सारा ज्ञान और विज्ञान शब्द में समाया हुआ है, और वहीं से उसकी प्रतीति होती है। इसी के साथ ही वाक्यपदीय में आगे यह कहा गया है कि प्राणियों में जो चेतना शक्ति है जो लोक-व्यवहार है तथा अन्तः की जो अनुभूति है वह सब कुछ वाणी में व्यक्त है। जहाँ चेतना है वहाँ वाणी है—

सैषा ससारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु॥
(वाक्य० १।१२६)

इसलिए यह निश्चय है कि अर्थ का सौन्दर्य शब्द के साथ ही उदित होता है। शब्द का सौन्दर्य अर्थ के साथ ही आता है। पृथ्वीधर ने भुवनेश्वरी की वन्दना करते हुए अपनी प्रार्थना में कहा है, हे मातः आपकी कृपा से सदा जगत्रय के अद्भुत आनन्द की अनोखी अनुभूति प्रदान करने वाला अत्यन्त ही उत्कृष्ट महमहाता हुआ सौन्दर्य मुख कमल में वाणी के विन्यासों में उदित होता रहे।[2]

इसलिए व्यवहारिक रूप में कोई शब्द बिना अर्थ के प्रयुक्त नहीं होता। कवि

---

१. काव्यादर्श १।४
इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥
२. भुवनेश्वरीस्तोत्र २२

की सहज प्रतिभा से सम्पन्न रचनाकार की वाणी अर्थ के उतार चढ़ाव के साथ अपने आप बदलती रहती है। ऐसा कवि अपनी रचना में अर्थ-व्युत्पत्ति की अपेक्षा नहीं रखता, उसकी वाणी पर्वत के चट्टान से फूटकर प्रवाहित होनेवाले निर्झर के समान प्रवाहित होती रहती है और उसके तट पर अपने आप हरीतिमा का राज्य छा जाता है। इस प्रसंग में हम कालिदास का एक उदाहरण देकर कवि द्वारा प्रयुक्त शब्द की सहज महिमा का निदर्शन देना चाहते हैं जहाँ अर्थ के अनुसार शब्द अपनी ध्वनि और गति को तदनुरूप सौन्दर्य और प्रवाह में बदल देता है। प्रसंग यह है, कवि वशिष्ठ के मुख से कहला रहा है कि दिलीप इन्द्र के यहाँ से पृथ्वी पर लौट रहे थे; रास्ते में कामधेनु गाय बैठी थी,उन्होंने गाय का प्रदक्षिणादि सत्कार नहीं किया। गाय ने शाप दे दिया, जो तुम स्त्री की उत्सुकता में मुझे प्रणाम किये विना चले जा रहे हो, तुम्हें सन्तान की प्राप्ति भी नहीं होगी। लेकिन न तो तुमने, न तुम्हारे सारथि ने ही उस शाप को सुना, क्योंकि उस समय आकाश-गंगा की धारा में दिग्गज जोर-जोर चिग्घाड़ कर आलोडन कर रहे थे, इस अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाला कालिदास का छन्द यह है—

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे॥

(रघुवंश १।७८)

इस छन्द के पूर्वार्द्ध का अर्थ है कि हे राजन् ! उस शाप को न तुमने, न तुम्हारे सारथि ने ही सुना। उत्तरार्द्ध में इसके न सुनने का कारण बताया गया है कि आकाश-गंगा के प्रवाह में उस समय दिग्गज ऊँची चिग्घाड़ से किल्लोल कर रहे थे। अब इस अर्थ को दृष्टि में रखकर कवि के छन्द के अक्षर-विन्यास पर ध्यान दीजिए। पूर्वार्द्ध में शाप के न सुनने की बात कही गयी है। उसमें ऐसे अक्षरों का विन्यास हो गया है जो अपने उच्चारण के कारण ही अघोष है। उनकी ध्वनि शान्त गति से तरंगित हो रही है, पदों में कोई सन्धि नहीं है जिसके कारण उच्चारण में ध्वनियों का आघात हो। इसके विपरीत उत्तरार्द्ध की पदावली में दिग्गज के चिग्घाड़ने और किल्लोल का वर्णन किया गया है। उत्तरार्द्ध की पदावली अपने आप में चिग्घाड़ और किल्लोल की ध्वनि का आघात-प्रतिघात लिये हुए है। जिसकी अभिव्यक्ति छन्द को पढ़ने से अपने आप हो जाती है। अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाली शब्दावली अपने अर्थ के अनुरूप ही ध्वनि से संयुक्त है। काव्य-रचना में ऐसी शब्दावली का प्रयोग केवल सहज रूप से किया जा सकता है, आहार्य रूप से नहीं। यह मानना पड़ेगा कि ऐसी पदावली की संरचना कालिदास

जैसे सहज कवि-प्रतिभा सम्पन्न कवियों के वश की ही बात है। ऐसा ही एक उदाहरण आदिकवि का लीजिए :

शक्यमम्बरमारुत मेघ-सोपान-पङ्क्तिभिः।
कुटजार्जुनमालाभिरलंकर्तुं दिवाकरः॥

अर्थात् वर्षाकाल में पर्वत, मेघ और आकाश बिल्कुल मिले हुए दिखाई देते हैं। कुटज और अर्जुन के फूल पर्वतों पर खिलते हैं, पर्वतों के ऊपर बादल एक से एक सटे हुए ऐसे लगते हैं जैसे सीढ़ियाँ बन गयी हों और उन सीढ़ियों पर चढ़कर कुटज तथा अर्जुन फूल की मालाएँ सूर्य को पहनायी जा सकती हैं। इसमें कवि ने पूर्वार्द्ध में मेघ की सोपान-पंक्तियों की चर्चा की, और उत्तरार्द्ध में वह ऐसे वर्ण-विन्यास करता है जैसे सीढ़ियों पर चढ़ा जा रहा हो। लघु अक्षरों के बाद दीर्घ अक्षरों का विन्यास कवि इस ढंग से करता है जैसे सीढ़ियों पर क्रम से नीचे से ऊपर चढ़ा जा रहा हो। इस वर्ण-विन्यास को इस तरह से देखिए—

कुटजा र्जुन मालाभि रलं कर्तुं दिवा करः।

कुन्तक ने कवियों के तीन मार्गों का व्याख्यान किया है—

१. सुकुमार मार्ग

२. विचित्र मार्ग

३. मध्यम मार्ग

सुकुमार मार्ग को कुन्तक सहज प्रतिभा सम्पन्न कवियों की रचना-सृष्टि मानते हैं। उन्होंने इसका परिचय देते हुए लिखा है कि कवियों का यह वह सुकुमार मार्ग है जो नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से अपने आप उत्पन्न नव शब्द और अर्थ से मनोहर होता है तथा अनायास आ गये परिमित मनोहारी अलंकारों से युक्त होता है, जिसमें अज्ञात रूप से स्थित आह्लादित करनेवाला सौन्दर्य विद्यमान रहता है। जैसे विधाता के असीम पाण्डित्य से निष्पन्न सृष्टि सर्वथा नूतन लगनेवाले सौन्दर्य को व्यक्त करती है ऐसे ही सर्वथा नूतन लगनेवाला काव्य-सौन्दर्य सुकुमार मार्ग के कवि की रचना में होगा। इस सुकुमार मार्ग की रचना में निष्णात तथा ऐसी प्रतिभा से सम्पन्न सहज कवि न तो अर्थ का चिन्तन करता है और न ही अक्षरों के विन्यास की सरणि की व्युत्पत्ति के आकलन में अपने को निमग्न करता है। उसके काव्य की सृष्टि ऐसे ही अभ्युदित हो जाती है जैसे

फूले हुए कुसुमों से भरा हुआ वन हो, भौंरा उस पर गुंजार करता हुआ यह दर्शन कराता जाए कि वन कुसुमित है।[1]

इस प्रसंग में कुन्तक ने एक सिद्धान्त की बात दोहराई है कि कवि का शब्द अर्थ के साथ ही प्रवृत्त होता है। यह सिद्धान्त इस बात का साक्षी है कि काव्य-रचना शब्द की सृष्टि है। कवि काव्य रचना करते समय शब्द के प्रति उत्तरदायी होता है। जब वह काव्य-रचना के क्षणों में स्थित होता है उस समय अर्थ का धरातल ऐसे ही पीछे छूट जाता है जैसे समुद्र से उठे हुए बादल हिमालय से टकरा रहे हों और समुद्र बहुत दूर हो। ऐसे ही शब्द की मेघ-लड़ियाँ कवि के मुख से उद्‌गीर्ण होती हैं। कुन्तक लिखते हैं कि यद्यपि विवक्षित अर्थ का बोध करानेवाले अनेक शब्द होते हैं किन्तु उन सारे शब्दों में काव्य की रचना-सृष्टि जिसमें अभिव्यक्त होती है वह शब्द केवल एक होता है और उस शब्द की पहचान या उस शब्द को दृष्टिगत करनेवाला केवल कवि होता है जो काव्य-सृष्टि में समर्थ है। केवल उसी शब्द के प्रयोग से ही वह अर्थ सहृदयों को आनन्दित करता है और अपने स्वभाव से प्रस्फुटित सौन्दर्य की सृष्टि करता है। अर्थात् शब्द की रचना ही काव्य सृष्टि है।[2]

काव्य-शास्त्र के नये चिन्तकों में जिनमें भारतीय विचारधारा के लोग भी हैं, इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं कि काव्य-सृष्टि केवल शब्द-सृष्टि है और अर्थ तो अपने आप उसमें समाया रहता है। इस प्रसंग में एक नये चिन्तक के एतद्‌विषयक विचारों को देखिए—

---

१. वक्रोक्ति जीवित १।२५-२७-२९

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः।
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः॥

२. वक्रोक्ति जीवित १।९

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

"वाणी जो पुरुष के मन की अधिष्ठात्री है तथा प्राण जो मनुष्य के कर्तृत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं, एक दूसरे से आह्लादित होते हैं। कर्तृत्व को, जो अहं का पर्याय, है, जो प्राणों में बिखरा है, मन (अन्तर्मन) अपने में लीन कर ऊपर को उठता है और वाणी में मुखर हो उठता है। यहाँ यह अन्तर रहता है कि मन बुद्धि से अर्थों को नहीं समेटता। ऐसा होने पर तो व्यावहारिक जगत् की वाणी जन्म लेती है। काव्य-रचना की प्रक्रिया में वह प्राणों को समेटता है, प्राण अर्थात् जगत् का कर्तृत्व मात्र उसमें लय होता है, साम (संगीत) बन जाता है, तब मन के साथ इसका संस्पर्श काव्य के वाणी (ऋक्) की सृष्टि करता है। इस प्रकार काव्य की रचना में भाषा का ही सर्जन होता है। अर्थ या जगद्-गत काव्य-वस्तु अपना अस्तित्व खोकर प्राण में लय हो गये रहते हैं। हम पाठक काव्य पढ़कर पुनः उसको मूल रूप में नहीं पाते। हमारे साक्षात्कार में एक आनन्द होता है जिसके रहस्यमय अवयवों में अर्थवस्तु ओत-प्रोत होती है। सत्ता वाणी की ही होती है।"[1]

जो भी हो हमको यह सोचना पड़ता है कि काव्य की रचना करते समय रचमान क्षण में कवि के सामने शब्द का सौन्दर्य होता है या अर्थ का संसार। दोनों नहीं हो सकते। स्थिति एक ही होती है, कर्तृत्व एक के प्रति ही अभिनिविष्ट होता है। क्या यह माना जाय कि वह अर्थ के प्रति अभिनिविष्ट होता है। अर्थ के प्रति अभिनिविष्ट होने में भी काव्य-सृष्टि की अभिव्यक्ति शब्द के रूप में ही होगी और यदि शब्द के प्रति अभिनिविष्ट होगा तो भी काव्य की रचना शब्द या वाणी के रूप में ही सामने आयेगी। इसलिए सृष्टि की अभिव्यक्ति जिस रूप में होगी, कर्त्ता का अभिनिवेश उसी रूप के प्रति होगा। यह बात भी है कि अर्थ वस्तु एक ही होती है और उसकी अभिव्यक्ति के वाणी-प्रकार अनेक होते हैं। यह अनेकता सृष्टि का लक्षण है। रचना रूप की अभिव्यक्ति है। अर्थ और भाषा के सम्बन्ध पर विचार कीजिए—

"अर्थ या वस्तु-दर्शन का विस्तार असीम है, किन्तु कोई भी अर्थ अपने बोध के अछोर स्पर्श में भी एक है और भाषा उस एक को ही अनेक प्रकार से प्रकट करती है। इसलिए भी काव्य-रचना की रचमान स्थिति में रचनात्मक अभिव्यक्ति भाषा

---

१. कवि का रचना-व्यापार और साहित्यशास्त्र (डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठी) पृ० ३१-३२।

की है, अर्थ तो अपनी जगह पर ज्यों का त्यों है। भाषा में उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार बदल जाते हैं, ये बदलते हुए प्रकार भाषा की सत्ता हैं।"[१]

यह बात भी हमको ध्यान में रखनी चाहिए कि काव्य की मूल रचना जिस भाषा में होती है उसका समग्र काव्य-सौन्दर्य उस भाषा के रूप में ही विद्यमान होता है। यदि उस काव्य का भाषान्तर या अनुवाद किया जाय तो काव्य का अर्थ तो वही रहेगा पर काव्य-सौन्दर्य का जो चमत्कार मूल भाषा में था वह भाषान्तर या अनुवाद में नहीं रह जायेगा। क्योंकि यह सौन्दर्य कवि की रची हुई भाषा में समाहित था, अर्थ में नहीं था। इस दृष्टि से भी हमें स्वीकार करना पड़ता है कि कवि काव्य की रचना करते समय शब्द या भाषा की ही सृष्टि करता है अर्थ की नहीं।

काव्य-रचना में भाषा की इसी सत्ता की अनुभूति ने गुण-सिद्धान्त को जन्म दिया। गिरनार के शिलालेख में स्फुट, लघु, मधुर, कान्ति आदि गुणों का शब्द-सिद्धान्त के रूप में उल्लेख किया गया है वह इसी अनुभूति के अंकुर थे। दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में गुण-सिद्धान्त का स्वतन्त्र रूप से विवेचन कर तथा साधारण अलंकारों से उसे नया अलंकार मानकर इसी सत्य का उद्घाटन किया। लेकिन हमको यह मानना पड़ेगा कि गुण-सिद्धान्त के प्रादुर्भाव में शब्द या भाषा की जिस सत्ता का उद्रेक हो रहा था उसकी सही स्थापना बहुत समय बाद कुन्तक के सुकुमार और विचित्र मार्गों के विवेचन में हो पायी। हम यह बात कभी न भूलें कि गुण-सिद्धान्त का अध्ययन करते समय हम कवि की काव्य-रचना में उसके लालित्य का दर्शन करने के लिए प्रवृत्त हो रहे हैं। गुण-सिद्धान्त का विवेचन उसकी अनेक कोटियों, स्थितियों तथा परिस्पन्दनों के अध्ययन में समाहित है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अलंकार, ध्वनि और रस के विवेचन के सामने इनका तिरस्कार कर दिया और गुण का अर्थ केवल बाहर प्रस्फुटित होनेवाला शौर्य मान कर उसकी अन्तः प्राणवत्ता अस्वीकार कर दी। माधुर्य, ओज और प्रसाद जो केवल तीन भावों के प्रतीक मात्र हैं सारे गुण सिद्धान्तों को उसी में समेट कर तिरोहित कर दिया। एक बात यह भी समझ में आती है कि गुण-सिद्धान्त का नाम-करण ही गलत हुआ। यदि काव्य-रचना के इस सिद्धान्त को गुण सिद्धान्त न कह कर शब्द-सिद्धान्त अभिहित किया गया होता तब मम्मट या आनन्दवर्धन को इस प्रकार माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन वृत्तियों में इस महान् सिद्धान्त को छिपाने की सुविधा न होती।

---

१. कवि का रचना-व्यापार और साहित्य-शास्त्र, पृष्ठ ३१।

यद्यपि दण्डी ने गुण-सिद्धान्त का अपने युग के अनुरूप विस्तार से विवेचन किया है लेकिन वह गुण-सिद्धान्त का सामान्य परिचय है। जिस विस्तार और सूक्ष्म दर्शन की अपेक्षा गुण-सिद्धान्त के लिए थी वह दण्डी में नहीं है। वामन या भोज में बिलकुल नहीं है। कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को यदि गुण-सिद्धान्त का पर्याय नहीं तो उसका सहधर्मा निकटतम सिद्धान्त मान लें, तो सूक्ष्म विश्लेषण के दर्शन 'वक्रोक्तिजीवित' में होते हैं।

गुण-सिद्धान्त के इस प्रकार तिरोहित होने के पीछे उसकी असामान्य सत्ता और अत्यन्त उत्कृष्ट दर्शन-व्यापार है, जिसका विवेचन करते समय अथवा जिसका अनुभव करते समय काव्य-शास्त्र का पंडित इस भ्रम में भ्रमित हो ही जाता है कि अगर अर्थ नहीं रहा तो केवल शब्द से काव्य की सृष्टि कैसे होगी। उसने इस मूल दर्शन का विवेचन नहीं किया कि शब्द की प्रवृत्ति बिना अर्थ के नहीं होती। एक बात और थी कि कवि-गोष्ठियों में जिस प्रकार की काव्य-रचना प्रस्तुत की जाती थी वह आहार्य थी सहज काव्य रचना नहीं थी। गुण-सिद्धान्त सहज काव्य रचना का दर्शन-व्यापार है। जो कवि या आचार्य यह समझते हैं कि काव्य की रचना करने के पहले यह सोच लेना चाहिए कि इसमें हम किन-किन अर्थों को लायेंगे, किन अलंकारों को लायेंगे, किन गुणों को लायेंगे, कैसी उक्ति रक्खेंगे आदि-आदि, वे गुण-सिद्धान्त से बहुत दूर हैं। गुण-सिद्धान्त ऐसी काव्य-रचना की संवारों की खेती के बहुत ऊपर विद्यमान वह गिरि-शिखर है जो अपने स्वयं जात झरनों से हरा-भरा और गुञ्जित है। खेतों के संवार में किसान हल बैल चलाकर जो खेती करता है तथा जो कवि काव्य-रचना के पहले अर्थ-वस्तु, अलंकार और भावों की सामग्री सँजो कर रचना-धर्म में प्रवृत्त होता है, दोनों एक समान हैं। वामन ने गुण-सिद्धान्त के विवेचन में बहुत बड़ी भूल की, जो उन्होंने गुणों के दो वर्ग कर दिए, शब्द-गुण और अर्थ-गुण। इनके इस भ्रमपूर्ण विवेचन से गुण-सिद्धान्त के चिन्तन का मार्ग ओझल हो गया। ऐसा लगता है कि वामन के सामने कालिदास के काव्य नहीं थे उन कवियों की रचनाएं थीं जो कवि-गोष्ठियों में या राजसभाओं में शब्द और अर्थ को रच-रच कर गढ़-गढ़ कर काव्य रचना किया करते थे।

इस प्रसंग में आनन्दवर्धन और भट्टनायक इन दो आचार्यों को भी उद्धृत करना चाहेंगे जिन्होंने प्रकारान्तर से गुण-सिद्धान्त के मूल-स्वरूप को स्वीकृति प्रदान की है। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि महान् कवियों की सरस्वती स्वादु अर्थ वस्तु को अपने आप प्रवाहित करती हुई लोकोत्तर चमत्कृतिविशिष्ट प्रतिभा

को अभिव्यक्त करती है।[१] अर्थात् महाकवियों की भारती अर्थ-वस्तु को अपने-आप धारा में प्रवाहित करती रहती हैं। वाणी के प्रवाह में सारे अर्थ-तत्त्व अपने आप सन्निहित रहते हैं, गुण-सिद्धान्त का दर्शन भी यही है।

भट्टनायक ने दूसरी बात कही है। वह यह कहते हैं कि जहाँ केवल शब्द की महिमा है वह पृथक् शास्त्र केवल वेदादि है और जहाँ अर्थ तत्त्व की प्रधानता है वह इतिहास, आख्यान आदि की रचना है। इन दोनों का स्थान जहाँ पर गौण है और क्रिया-तत्परता ही प्रधानता से स्थित है वह काव्य-रचना का विषय है। यह काव्यधी की स्थिति जिसमें हैं वह कवि है[२] अर्थात् भट्टनायक काव्य के रचमान क्षण में अर्थ-तत्त्व का तिरस्कार तो करते ही हैं शब्द की स्थिति भी गौण मानते हैं।

हमारे मत में जो काव्य-रचना के क्षणों में अर्थ-तत्त्व की उपस्थिति नहीं स्वीकार करता वह इस गुण-सिद्धान्त की सत्ता की स्वीकृति प्रदान करता है। भट्टनायक ने इसे व्यापार-प्राधान्य (क्रिया-तत्परता) कहा है। यह क्रिया-तत्परता शब्द के अधिक निकट है, अर्थ के नहीं और यह बात गुण-सिद्धान्त के के पक्ष में है। अभिनवगुप्त के अनुसार ध्वनि-व्यापार शब्द का विषय है। अतः काव्य से रस-बोध या भावाभिव्यक्ति सहृदय पाठक को काव्य-रचना में प्रयुक्त शब्दों के निष्पीडन या पाठ तथा चर्वण से होती है, अर्थों से नहीं।[३]

---

१. ध्वन्यालोक १।६
सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

२. ध्वन्यालोक लोचन १।५ में भट्टनायक की उद्धृत कारिका।
शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ।।

३. ध्वन्यालोक १।१८ कारिका की लोचन टीका
काव्यात्मक शब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते।
दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोक;
न तु काव्यस्य तत्र 'उपादायापि ये हेया' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्य
अनुपयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः।

शब्द के सौष्ठव के प्रति अथवा इस प्रक्रिया के प्रति, कि अक्षर विन्यास में काव्य का लालित्य उदित होता है भावकों अथवा कवियों का ध्यान कब गया होगा अथवा परम्परा से प्राप्त इस अभिनिवेश का आधार क्या है? इस पर भी थोड़ा विचार करें। राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' ग्रन्थ में वाणी-विन्यास के अलग-अलग लक्षण बताए हैं। ये लक्षण गुण-सिद्धान्त के निकट पड़ते हैं। निश्चित रूप से यह विभाजन बहुत पुराना रहा होगा और राजशेखर ने इन्हें परम्परा से सुना होगा। क्योंकि उनके समय देव और नाग जातियों का अस्तित्व नहीं था। उन्होंने काव्यमीमांसा के ७वें अध्याय में पाठ-प्रतिष्ठा का विवेचन करते हुए ऋषियों, देवों, नागों एवं योगिनियों के वचन-विन्यास की परिभाषा एवं उसके उदाहरण दिए हैं। इसमें प्रायः अधिकांश राजशेखर की कल्पना है। उनकी कल्पना इस बात का संकेत करती है कि वचन-विन्यास की रोचकता और इसकी विशिष्टता के प्रति सभी प्रयत्नशील रहते थे। उन्होंने देवों के वचन विन्यास का लक्षण दिया है—

समासव्याससंदृब्धं शृङ्गाराद्भुतसम्भृतम्।
सानुप्राससमुदारं च वचः स्यादमृताशिनाम्॥

अमृतभोजी देवों का वचन समास और व्यास पदों द्वारा सुघटित, शृंगार एवं अद्‌भुत भाव से भरा हुआ अनुप्रास एवं उदार (उत्कर्ष युक्त वर्णन) से युक्त होता है। राजशेखर ने इस लक्षण से युक्त देव-वाक्य का यह उदाहरण दिया है—

यच्चन्द्रकोटिकरकोरकभारभाजि
बभ्राम बभ्रुणि जटाकुहरे हरस्य।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्ज-
झाङ्कार-डम्बरविरावि सुरापगाम्भः॥

(अर्थात् देवनदी गंगा का जो जल, शिव की भूरे रंग की जटाओं के कुहर में, जिस कुहर को चन्द्रमा के अग्र भाग से छिटकने वाली किरणें कलियों के समान आच्छादित किये रहती है, चक्कर लगाता रहा तथा उनके जटाकुहर से निकलकर जो हिमपर्वत के शिलाओं के निकुञ्ज में अत्यन्त तेजी से प्रवाहित होने के कारण झणत्कार के साथ उच्च स्वर से कल-कल निनाद करता रहा, वह आप लोगों को पवित्र करे।)

इसी से मिलता जुलता नागों के वाक्य का लक्षण दिया गया है जो इस प्रकार है—

प्रसन्नमधुरोदात्त समासव्यासभागवत्।
अनोजस्विपदप्रायं वचो भवति भोगिनाम्॥

अर्थात् प्रसन्न, मधुर, उदात्त कहीं समास युक्त और कहीं व्यास पदों से युक्त ओज रहित वचन नागों का होता है।

यहाँ पर देव वाक्य और नाग वाक्य का अन्तर देखिए—देवों के वाक्य में शृंगार और अद्‌भुत भावों की योजना होती है, वह ओजस्वी भी होती है, नाग के वाक्य में ये विशेषताएँ नहीं होतीं और प्रायः एक समान होती है। बस इतना अन्तर नागों की वाणी का पार्थक्य कर रहा है। राजशेखर ने इसी लक्षण के अनुसार नाग-वाक्य का उदाहरण दिया है, जो प्रसन्न, मधुर तथा उदात्तता की अभिव्यक्ति करता है इसके साथ ही इसमें ओजोगुण का अभाव भी है:—

सुसर्जि (ज्जि) तां श्रोत्रसुखां सुरूपा-
मनेकरत्नोज्ज्वलचित्रिताङ्गीम् ।
विद्याधरेन्द्रः प्रतिगृह्य वीणां
पिनाकिने गायति मङ्गलानि॥

(अर्थात् अच्छी तरह सवाँरी, कानों को सुख देने वाली अनेक सुन्दर रत्नों से जटित होकर चमकती हुई चित्र-विचित्र वीणा को लेकर विद्याधरों का राजा शिव के लिए मंगल गीत गा रहा है।)

इसी प्रकार राजशेखर ने ऋषीकों, गन्धर्वों और योगिनियों के वाक्यों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं। ब्रह्म वाक्य और ऐश्वर वाक्यों का भी उदाहरण दिया है। उन्होंने कहा है कि प्रणेता-भेद से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—ब्राह्म, शैव और वैष्णव। पर ऐसे भेद की न तो कोई व्यावहारिकता है न तो कोई सत्ता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि आचार्य राजशेखर इन सब का उल्लेख मनोयोग से कर रहे हैं तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसके पीछे कोई न कोई तत्त्व-चिन्तन है। वह तत्त्व-चिन्तन यही है कि अनेक परम्पराओं से और अनेक नामों से विख्यात पद्धतियों से कवियों ने अपनी वाणी का शृंगार किया है। राजशेखर ने स्पष्ट ही लिखा है कि यह उपन्यास किस लिए है और इसका प्रयोजन क्या है? इस जिज्ञासा का उत्तर राजशेखर देते हैं कि यह सब कवियों के उपदेश के लिए

हैं। विशेषकर नाटकों में जहाँ ईश्वर, देव, नाग, योगिनी, गन्धर्व जैसे पात्र प्रवेश करते हैं वहाँ इनके संवादों में ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया जाना चाहिये।[1]

राजशेखर ने इन सब बातों को केवल अपनी कल्पना से नहीं लिखा है यह उद्भावना उनको परम्परा से प्राप्त हुई है और यदि नाटकीय संवादों में विभिन्न योनियों के पात्रों की विभिन्न भाषाएँ और उनके विभिन्न वाक्यप्रकार कल्पित किए गये हों तथा लोक नाट्य में इस प्रकार के अन्तर को उपस्थापित करने के लिए देव, नाग, गन्धर्व आदि की वाक्य रचनाओं में इस प्रकार के एक सूक्ष्म भेदों की कल्पना की गयी हो तो इसका इतिहास भारतीय नाटक के अभ्युदय के साथ जुड़ा हुआ है और राजशेखर से एक हजार वर्ष पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी ई० के आस-पास विभिन्न प्रकार के वाक्यों में समस्त पद, व्यस्त पद, प्रसन्न, मधुर, उदात्त, ओज, अनोजस्वि, उदार आदि लक्षणों की स्थापना की गयी होगी। इसी परम्परा में राजशेखर ने कवि के इन वाक्य-प्रकारों का विवेचन किया है। हम यह पहले कह चुके हैं कि १५० ई० के गिरिनार शिलालेख में स्फुट, मधुर, चित्र, कान्ति आदि शब्द-सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। दण्डी के काव्यादर्श में इन गुणों का विवेचन हुआ है तथा उन्होंने अपने युग की विदग्ध-गोष्ठियों में कवियों को मार्ग और गुणों के अभिज्ञान को भलीभाँति जानने के लिए सचेत किया है, जिससे वे कवि-गोष्ठियों में उन्मुक्त होकर अभिमान के साथ काव्य सुनाएँ तथा दूसरे का काव्य श्रवण कर सकें। काव्य के ऐसे मार्ग और उसके गुणों के पीछे यह परम्परा भी रही होगी जिसका उल्लेख बहुत समय बाद राजशेखर अपने काव्य-मीमांसा में करते हैं।

गुणों की पूर्व परम्परा का निश्चित संकेत हमें उपनिषद्, व्यास रचित जय काव्य एवं आदि-कवि के रामायण महाकाव्य में मिलते हैं। इन रचनाओं में विभिन्न व्यक्तियों की वाणी के विशिष्ट लक्षण और प्रभावों का वर्णन किया गया है। उपनिषद् में एक स्थल पर कहा गया है कि विर्नदि नामक सामगान का वरण करता हूँ, जो पशुओं की उन्नति करता है, वह अग्नि का गान है। प्रजापति का गान (उद्गीथ) अनिरुक्त है, अर्थात् उसकी तुलना किसी से नहीं हो सकती, सोम का गान निरुक्त है। वायु का मृदु तथा सरलता से उच्चारण किए जाने

---

१. काव्यमीमांसा, अध्याय ७

किमर्थं पुनरनुपदेश्ययोर्ब्राह्मपारमेश्वरयोर्वाक्यमार्गयोरुपन्यासः? इत्याचार्याः। "सोऽपि कवीनामुपदेशपरः" इति यायावरीयः। यतो नाटकादावीश्वरादीनां देवानां च प्रवेशे तच्छायावन्ति वाक्यानि विधेयानि। इति दिव्यम्।

योग्य श्लक्ष्ण है। इन्द्र का गान श्लक्ष्ण भी है और बलवान् ओजस्वी भी। बृहस्पति का क्रौञ्च पक्षी के समान वरुण का अपध्वान्त है। इनमें वरुण के गानों को छोड़कर शेष गानों की उपासना की जाय।[१]

जय-काव्य में कृष्ण, द्रोण, संजय, शान्तनु, गंगा आदि अनेक पात्रों के वाणी-विन्यास की विभिन्न विशेषताएं कही गयी हैं, जो प्रकारान्तर से गुण सिद्धान्त को समुल्लसित करती हैं। जय काव्य में लिखा गया है कि कृष्ण की वाणी, 'मेघ-स्वन' के समान होती थी। आचार्य द्रोण के वचन 'महामेघनिभस्वन' होते थे। इसी प्रकार अवसर विशेष में प्रसंग के अनुसार किस प्रकार की वाणी का प्रयोग करना चाहिए इसका उल्लेख भी जय काव्य में आता है। भगवान् कृष्ण जब सन्धि-वार्ता में विफल हो गये तब उन्होंने यह प्रयत्न किया कि वे कर्ण को अपने पक्ष में कर लें। उस समय उन्होंने कर्ण से जैसी बात की और जैसे वाक्यों के प्रयोग द्वारा कर्ण को वश में करना चाहा उनकी इस कूटनीति का विवरण संजय ने धृतराष्ट्र को दिया है। वह कहता है कि हे महाराज! मधुसूदन कृष्ण ने जिस प्रकार से कर्ण से आनुपूर्व्य, तीक्ष्ण, मृदु, प्रिय, धर्मयुक्त, सत्य, हितकारी हृदय में ग्रहण करने योग्य वाक्यों को कहा है उनको सुनिए। संजय के इस कथन में कृष्ण के वाक्यों की जो विशेषताएँ बतायी गयी हैं उनमें आनुपूर्वी, तीक्ष्ण, मृदु स्पष्ट रूप से गुणों के ही स्वरूप है। जय-काव्य में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि किस समय में किस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् गुणों का प्रयोग देश काल की अपेक्षा से अधिक प्रभावशाली हो जाता है। गंगा जब शान्तनु की पत्नी बनने आयीं तब उन्हें अपने पूर्व शाप और वसुओं के उद्धार का श्रवण कर राजा को वश में कर अपनी शर्त स्वीकार करा लेने की चिन्ता थी। इसलिए उन्होंने अत्यन्त ही मदु एवं वल्गुगुणों से युक्त वाणी में आनन्द वर्षाते हुए राजा से कहा कि महीपाल! मैं तुम्हारी महिषी बनूँगी पर तुम्हें भी मेरी कुछ शर्तें माननी होंगी।[२]

आदिकवि के रामायण महाकाव्य में भी स्थान-स्थान पर वाणी की इन विशेषताओं का, जो गुण का स्वरूप है, व्याख्यान किया गया है। सीताहरण के बाद जब राम लक्ष्मण सीता की खोज में चले जा रहे थे और सुग्रीव बालि के भय से ऋष्यमूक पर्वत पर निवास कर रहा था, तब वह इस बात से भयभीत हुआ कि कहीं बालि ने इन्हें मुझे मारने के लिए न भेजा हो इसलिए उसने हनुमान् को

---

१. छान्दोग्योपनिषद् २।२२।१

२. महाभारत आदिपर्व ९८।१-२

दूत बना कर भेजा कि तुम पता करो कि ये कौन हैं? हनुमान् ने जैसी विशिष्ट वाणी में अपनी बात कही उस वाणी की प्रशंसा राम ने लक्ष्मण से की है:— लक्ष्मण! इस दूत ने जैसी बात कही हैं इसके हृदय-स्थित वाक्य कण्ठ से फूटकर मध्यम स्वर में जो बाहर प्रकट हुए हैं वे अविस्तर हैं असन्दिग्ध हैं, अविलम्बित हैं और अव्यथ हैं। हृदय कण्ठ और सिर की भंगिमा से उच्चारण के समकाल ही वाक्यों का अर्थ-बोध होता जा रहा है। ऐसी चित्रमयी वाणी को सुनकर उस शत्रु का भी चित्त मुग्ध हो जाएगा जो तलवार खींचकर मारना चाहता हो।[1] कवि ने हनुमान् के वाक्यों की चार विशेषताएँ बतायी हैं—अविस्तर असन्दिग्ध, अविलम्बित और अव्यथ। ये क्रमशः श्लेषगुण, अर्थ-व्यक्ति, समता और माधुर्य गुणों के निकट हैं।

इसी प्रकार दुर्गा-सप्तशती तथा अन्य पुराणों में भी वाणी के सौन्दर्य का उल्लेख हुआ है। दण्डी के द्वारा 'काव्यादर्श' में गुणों का विवेचन करने के पहले विविध स्रोतों से वाणी के सौन्दर्य और उसकी भंगिमा के कई प्रकारों का उल्लेख हुआ है। इन सौन्दर्य तथा भंगिमाओं को यदि दण्डी के दश गुणों की सीमा में आकलित किया जाए तो यह वर्गीकरण कुछ इस प्रकार होगा—

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि दण्डी के दश गुणों में अर्थ-व्यक्ति गुण का लक्षण विकास-काल से लेकर एक समान रहा। जहाँ पर अनेयत्व हो अर्थात् अर्थ अपने आप प्रस्फुटित हो रहा हो, काव्य-रचना में ऐसी वस्तु का विन्यास अर्थ-व्यक्ति गुण है। यह गुण सभी कवियों को समान रूप से ग्राह्य था, वे चाहे गौड देश के हो चाहे विदर्भ के। इसके साथ ही दूसरा गुण है समाधि गुण। जो शब्द के आश्रित होने पर भी अर्थ-रचना की प्रक्रिया है। इसलिए वाणी के सौन्दर्य और भंगिमा से इसका निकट का सम्बन्ध नहीं। इसी क्रम में तीसरा कान्त गुण है, जिसमें लौकिक अर्थ का अतिक्रमण न करके किसी हृदयग्राही अर्थ का विन्यास किया जाता है। अतः इसको भी वाणी की भंगिमा के उतना निकट नहीं माना जा सकता। शेष सात गुण किस प्रकार वाणी के सौन्दर्य और भंगिमा के विविध कोटियों से होकर अपने रूप में स्थिर हुए हैं इसको नीचे के लेखे से जाना जा सकता है—

श्लक्ष्ण, आनुपूर्व्य, अविस्तर—**श्लेष गुण**

अग्राम्यता, काकु, अनुप्रास, अव्यथ, मनोज्ञ—**माधुर्य**

विभक्तिमय पद, अनोजस्वि—**सुकुमारता**

---

१. वा० रामायण, किष्कि० ३।३१-३३

प्रत्यक्षाभिहितार्थ, विभक्त वाक्य—**प्रसाद**
मृदु, अविलम्बित—**समता**
आख्यात प्रयोग, समास-बहुल पद—**ओज**
वल्गु, हृदयग्राहित्व—**उदार**

जिस प्रकार विविध भंगिमाओं से सँवरता हुआ शब्द-सिद्धान्त दण्डी द्वारा निरूपित वैदर्भ मार्ग के प्राणभूत दश गुणों के रूप में अपनी सैद्धान्तिक सत्ता में स्थिर हुआ, उस प्रकार उसकी इस सरणि में शब्द-सिद्धान्त की सूक्ष्म विशेषताओं को आकलित करने का कार्य आगे नहीं हो सका। इसका क्या कारण हो सकता है यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो बात यों समझ में आती है कि जो सहज कवि हैं और जिनकी शब्द-रचना ही काव्य की सष्टि है उनको कभी शब्द-सिद्धान्त की सूक्ष्म विशेषताओं पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। उनकी रचना सदैव ही शब्द के सौन्दर्य से मण्डित होती है। कुन्तक ने सुकुमार-मार्ग के विवेचन में यही कहा है। सहज कवियों के अतिरिक्त अभ्यास आदि से काव्य रचना का कौशल अभिव्यक्त करनेवाले जो आहार्य-कवि हैं शक्ति और प्रतिभा के अनुसार उनके कई वर्ग हो सकते हैं, और ऐसे कवियों का ध्यान पहले अर्थ पर जायगा और ये अर्थ के अनुसार शब्द की खोज करेंगे। अतः ऐसी रचनाओं में काव्य-सौन्दर्य की वह मनोज्ञता नहीं आ सकती है जो अनिर्वचनीय हो, अपरिच्छेद्य हो, और न ही ऐसा आहार्य काव्य ऐसी काव्य-सृष्टि का उदाहरण बन सकता है जिसकी प्रशंसा अग्निपुराण इस रूप में करता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिभाव्यते॥

अर्थात् अपनी असीम काव्य-सृष्टि में कवि स्वयं उसका प्रजापति होता है। वह उसमें विश्व को जैसा चाहता है वैसा ही परिकल्पित कर देता है। विश्व को इस प्रकार से परिकल्पित करने की क्षमता केवल सहज कवि में होती है, और दूसरी ओर इस तुलना में जो आहार्य कवि हैं वे काव्य सृष्टि में विश्व की परिभावना नहीं कर सकते जो दूसरी सृष्टि का रूप ले ले, क्योंकि वे अर्थ की उपासना करते हैं। अर्थ के अनुसार वे अपनी काव्यसृष्टि की रचना करते हैं। ऐसा नहीं है कि धाता यथापूर्वमकल्पयत् के अनुसार वे शब्द की रचना करें और अर्थ अपने आप उसमें समाहित हो जाय। इसलिए ऐसे कवियों की रचना उक्ति अथवा पाण्डित्य का चमत्कार मात्र रह जाती है।

ऐसी सूक्ष्म-दृष्टि के विश्लेषण से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि गुण-सिद्धान्त का अब तक ठीक-ठीक व्याख्यान नहीं हुआ। जो कुछ व्याख्यान हुआ है उसमें से अधिकांश भ्रमात्मक हो गया है। गुण-सिद्धान्त की सरणि की ठीक पहचान दण्डी और कुन्तक ने की है। यद्यपि इन दोनों के काल में एक लम्बी अवधि का अन्तर है, पर इसमें दो मत नहीं हो सकते कि गुण-सिद्धान्त के आविर्भाव का जो मूल स्वरूप था उसकी रक्षा दण्डी और कुन्तक भी करते हैं। गुण के आविर्भाव का मूल-स्वरूप शब्द की शक्ति और उसका सौन्दर्य है। वामन, आनन्दवर्धन और भोजराज ने अर्थ के अनुसार शब्दोपस्थिति की कल्पना कर गुण-सिद्धान्त के चिन्तन का मार्ग ओझल कर दिया। वामन ने शब्द के साथ अर्थ-गुणों की कल्पना की, आनन्दवर्धन ने गुण को संघटना के रूप में देखा तथा भोजराज ने अलंकारों के वर्गीकरण की पद्धति पर चौबीस भेद कल्पित किए। एवं शब्द, अर्थ और दोषाभाव भेद से उनकी संख्या बहत्तर कर दी। उनके इन भेदों की कल्पना से गुण-सिद्धान्त का स्वरूप स्पष्ट होने के स्थान पर उलझ गया।

एक बात यह समझ रखनी चाहिए कि काव्य-रचना में गुण-सिद्धान्त का विवेचन कवि के लिए नहीं है भावक या आलोचक के लिए है। जो किसी काव्य को पढ़कर उसके काव्य-सौन्दर्य को आकलित करने के लिए शब्द-विन्यास और शब्द-विन्यास के माध्यम से अर्थ-विन्यास की परीक्षा करने जारहा हो। काव्य-गोष्ठियों में शब्द-विन्यास के इस परीक्षण ने ही शब्द-सिद्धान्त अर्थात्-गुण सिद्धान्त को जन्म दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कवि होगा, जिसमें कवि-प्रतिभा होगी वह शब्दों का मनोज्ञ-विन्यास अपने आप करता जायेगा, उसको सोचने का अवसर कहाँ रहेगा कि मैं किस गुण का निबन्धन कर रहा हूँ। काव्य का श्रोता उसके सौन्दर्य का व्याख्यान करे। इस तुलना में जो प्रतिभा-अभ्यास से कविता करनेवाला आहार्य कवि होगा, वह शब्द को नहीं पहले अर्थ को सोचेगा। इसलिए शब्द-सिद्धान्त की प्रयोगात्मक अभिव्यक्ति केवल सहज कवियों में ही, कुन्तक के अनुसार सुकुमार मार्ग के कवियों में ही खोजी जा सकती है, अन्य कवियों में नहीं। और यह निश्चय स्वीकार कर लेना चाहिए कि गुण-सिद्धान्त की चरितार्थता प्रत्येक कवि के काव्य के लिए नहीं है। अब यहाँ पहले दण्डी और कुन्तक के गुण-सिद्धान्त का परिचय और इसकी समीक्षा की जाती है। दण्डी ने काव्य की कोई परिभाषा नहीं दी है, उन्होंने लिखा है कि इष्टार्थ से व्यच्छिन्न पदावली काव्य का शरीर है।[1] इष्ट अर्थ से युक्त पदावली का यह रूप उनके

---

१. काव्यादर्श १।१०
शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली।

समय की काव्य-गोष्ठियों में दो रूपों में भासता है, एक रूप वह था—जो वैदर्भ मार्ग के कवियों के लिए इष्ट था तथा जो दण्डी के लिए भी इष्ट था। दूसरा रूप वह था जो गौड़ मार्ग के कवियों के लिए प्रिय था। पर इन दोनों मार्ग के रूपों को संजीवित करने वाले दश गुण थे। दण्डी ने यह स्पष्ट लिखा है कि इस प्रकार ये दश गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं, और यही गुण थोड़े से विपर्यय के साथ गौड मार्ग में भी पाये जाते हैं,[1] यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि दण्डी ने काव्य की कोई परिभाषा नहीं दी। यह इस बात का द्योतक है कि दण्डी उस युग में हुए जब काव्य-रचना अपनी संजीवित स्थिति में विद्यमान थी। सहज थी और गतिमान थी। क्योंकि परिभाषा तब की जाती है जब कोई वस्तु अविद्यमान हो, मृत हो या इतिहास की वस्तु बन गयी हो। छठी ई० के बाद संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में जो तरह-तरह के पक्ष उपस्थित किए हैं वे सब काव्य-रचना की सत्ता को इतिहास की वस्तु घोषित करते हैं। दण्डी द्वारा व्याख्यान किए गये दश गुण निम्नलिखित हैं—

१. श्लेष गुण—जहाँ पर ऐसा शब्द-विन्यास किया जाय कि पद-बन्ध में शैथिल्य न प्रतीत हो, वह श्लेष गुण है। अल्प प्राण वर्णों के साथ उत्तरोत्तर महाप्राण अक्षरों का प्रयोग काव्य-बन्ध में शिथिलता नहीं आने देता।

२. प्रसाद गुण—जहाँ प्रसिद्ध अर्थ का प्रयोग अपने आप व्यक्त हो रहा हो, वह प्रसाद गुण है।

३. समता—मृदु और स्फुट वर्णों का अविषम पद-बन्ध समता है।

४. माधुर्य गुण—जहाँ वर्णनीय वस्तु मधुर हो और उसके अनुसार भाषा भी रस-युक्त हो, वह माधुर्य गुण है।

५. सुकुमारता—जहाँ पदावली में निष्ठुर वर्णों का अभाव हो, वहाँ सुकुमारता गुण होता है।

६. अर्थ-व्यक्ति—जहाँ पर अर्थ-बोध के लिए वस्तु में और किसी पक्ष का अध्याहार (नेयत्व) न करना पड़े, वस्तु अपने पूर्ण बिम्ब के साथ उपस्थित हो, वहाँ अर्थ-व्यक्ति गुण होता है।

७. उदारता—वर्णनीय वस्तु की उत्कृष्ट कल्पना उदारता गुण है।

८. ओज—समास बहुल रचना को ओज गुण कहते हैं। इसका प्रयोग गद्य में अधिक होता है।

---

१. काव्यादर्श १।४२

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

९. कान्ति---लोक-प्रिय कल्पनाओं से युक्त अर्थ की उपस्थिति जो, वार्ता और वर्णना काव्यों में पायी जाती है।

१०. समाधि-गुण---अचेतन में चेतन के धर्म की स्थापना, जिसके द्वारा मनुष्य की भावनाओं की अभिव्यक्ति हो, समाधि गुण है।[1]

दण्डी ने इन गुणों की परिभाषाओं के साथ वैदर्भ और गौड मार्ग की काव्य-रचनाओं के उदाहरण भी दिये हैं और परस्पर उनके भेदों को स्पष्ट भी किया है। इससे प्रतीत होता है कि उस युग में काव्य-रचना की कसौटी केवल समीक्षात्मक ही नहीं, प्रयोगात्मक भी थी।

इस प्रसंग में दण्डी के युग और ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य मम्मट के युग की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का एक लघु तुलनात्मक विवेचन उनकी परिभाषाओं से किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि दण्डी का काल काव्य-रचना का संजीवित युग था और मम्मट का काल, वह युग था जब काव्य रचना की सहज धारा संस्कृत-कवियों के बीच सूखकर इतिहास की वस्तु बन गयी थी। इसीलिए मम्मट के काल में काव्य को वैसे देखा जा रहा है जैसे वह एक परिभाषा में सीमित है और उसका निर्माण उस परिभाषा की सरणि पर कोई भी कर सकता है। दण्डी ने लिखा था कि इष्ट-अर्थ से युक्त पदावली काव्य का शरीर है और दश गुण उसके प्राण हैं। अर्थात् पदावली और शब्द-विन्यास में अभिव्यक्त होनेवाली कोई रचना काव्य है जिसका संयोग कैसे घटित होता है यह नहीं कहा जा सकता, उसका रचयिता इसको जान पाता है। पर ग्यारहवीं शताब्दी में मम्मट ने बड़े विश्वास के साथ कहा कि गुण-युक्त दोष-रहित कहीं अलंकार युक्त, कहीं अनलंकार शब्दार्थ ही काव्य है।[2] दण्डी और मम्मट की इन परिभाषाओं को थोड़ा आमने-सामने रख कर देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि दो दृष्टियाँ हैं और दोनों दृष्टियों में दर्शन का भेद है। दण्डी की दृष्टि, वर्तमान की है वह काव्य को बिल्कुल प्रत्यक्ष देख रही है। मम्मट की दृष्टि, उनके सामने इतिहास को देखने का प्रयत्न है, वे आँक रहे हैं कि इतिहास की वह वस्तु कैसी है जिसे काव्य कहते हैं और जिसकी रचना के लिए ही कालिदास आदि कवियों की प्रसिद्धि है, इसीलिए उन्होंने कहा कि दोष-रहित और गुण-सहित शब्दार्थ काव्य है। किन्तु रचना-व्यापार की

---

१. इन सभी परिभाषाओं तथा उदाहरणों के लिए देखिए, काव्यादर्श १।४३-९५

२. काव्य-प्रकाश १।४

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

स्थिति यह है कि शब्द जो काव्य की रचना को प्रत्यक्ष कराता है वह दोष-युक्त और गुण-विहीन नहीं होता, वह सदा गुण-युक्त ही होता है। काव्य-रचना के व्यापार में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि वह गुण-हीन शब्द में रचा जायगा। ऐसी स्थिति में मम्मट-कृत काव्य का यह लक्षण केवल अटकल मात्र है और यह प्रकट करता है कि लक्षणाकार को लक्ष्य वस्तु की केवल ऊपरी जानकारी है, यथार्थतः वह नहीं जानता कि काव्य क्या है? यतः शब्द-अर्थ में उसका निबन्धन है और सदा से शब्द-अर्थ में ही होता आया है, इसलिए उसने शब्दार्थ को काव्य कह दिया, और जब इससे अधिक उसकी छानबीन की कि कौन-से शब्दार्थ काव्य हैं? तब यह निर्णय ले लिया कि जो शब्दार्थ दोष-रहित हों, गुण-सहित हों, सालंकृति हों। यद्यपि मम्मट आगे काव्य-प्रकाश के चतुर्थ-पंचम उल्लास में ध्वनि तथा व्यंग्य का निरूपण करते हैं तथापि अपने काव्य-लक्षण में इनका उल्लेख नहीं करते, दूसरी ओर अच्छा काव्य भी उसे ही मानते हैं जिस काव्य में इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति हो रही हो। इन सब का ताल-मेल बैठाने के लिए उन्होंने शब्दशक्ति का निरूपण किया है। और शब्द है उनके काव्य-लक्षण का एक भाग, इस प्रकार परम्परया अन्विति से सारी बात बन जाती है तथा तर्क की कसौटी पर अदोषौ सगुणौ सालंकृती शब्दार्थों का अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है। इसीलिए मम्मट के इस काव्य-लक्षण की बड़ी प्रशंसा की जाती है। पर यह विचारणीय हैं कि प्रशंसा करनेवाले इस बात को भूल जाते हैं कि यहाँ क्या शब्द को शब्द-शक्ति तक व्यापक किया जा सकता है? और क्या वहाँ उस व्यापकता में काव्य के शब्दार्थ की स्थिति सदा दोष-रहित और गुण-सहित नहीं स्वीकार की जा सकती? अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मम्मट ने जिस काल में काव्य का यह लक्षण किया है, उस काल में काव्य न संजीवित था, न सर्वांगपूर्ण था। यदि काव्य मम्मट के युग में सर्वांग और संजीवित होता तो मम्मट का यह काव्य-लक्षण और उनका यह काव्य-प्रकाश ग्रन्थ दोनों ही उपेक्षित कर दिये जाते। काव्य-प्रकाश के सातवें उल्लास में मम्मट ने कालिदास जैसे कवियों के काव्य में दोष-दर्शन किया है, कदाचित् यह दोष-दर्शन काव्य-लक्षण के अनुसार दोष-सहित शब्दार्थ की खोज है? यदि उनकी कश्मीरी कवि-गोष्ठियों में काव्य-रचना का सही रूप संजीवित होता तब उनके लिए काव्य-प्रकाश के सातवें उल्लास की रचना सम्भव न होती। काव्य-रचना के गौण हो जाने पर आलोचना संजीवित हो जाती है, और वह साहित्य-रचना का स्थान-ग्रहण कर लेती है। दण्डी के काव्यादर्श और मम्मट के काव्य-प्रकाश में यह अन्तर बहुत स्पष्ट है। काव्यादर्श काव्य-रचना का प्रयोगात्मक

लक्षण ग्रन्थ है और काव्य-प्रकाश प्रयोगात्मक आलोचना ग्रन्थ है। अर्थात् दण्डी जानते थे कि काव्य का स्वरूप यह है और मम्मट काव्य क्या है इस सम्बन्ध में अटकलें लगा रहे थे। दण्डी के युग के लगभग कालिदास ने अपने अमृत काव्यों की रचना की है और मम्मट के युग में जो काव्य लिखे गये वे उक्ति-वैचित्र्य मात्र पर्यवसायी हैं। न उनमें काव्य का अजस्र प्रवाहित निर्झर है, न आनन्द की हिलोरें उठानेवाला अथाह रस-सागर।

दण्डी के गुणों की परिभाषा और उनका प्रयोगात्मक विवेचन संस्कृत काव्य-शास्त्र के लिए अपूर्व देन है। दण्डी का यह गुण-विवेचन काव्य-रचना की मूल प्रकृति का संदर्शन है। इसीलिए अपने समय के ७०० वर्ष बाद ग्यारहवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य कुन्तक के गुण व्याख्यान से दण्डी का मार्ग और गुण विवेचन परस्पर मौलिकता की अन्विति रखता है। और यह एक विलक्षण बात है, क्योंकि दण्डी विदर्भ देश के रहनेवाले थे और कुन्तक कश्मीर के रहनेवाले थे। दोनों का देश तो भिन्न था ही, युग और काल की परम्पराएँ भी भिन्न हो गयीं थीं। ऐसी स्थिति में भी दोनों आचार्यों के मार्ग और गुण-विवेचन में अद्भुत समानता है। दण्डी ने मुख्य रूप से कवियों के दो मार्ग बताए हैं—वैदर्भ और गौड़, और उसने वैदर्भ को श्रेष्ठ कवि-मार्ग स्वीकार किया है। कुन्तक ने तीन कवि-मार्गों की विवेचना की है। (यह ध्यान देने योग्य है कि दण्डी और कुन्तक ने कवि-मार्ग संज्ञा का अभिधान किया है रीति का नहीं, मार्ग और रीति के इस भेद को हमें अपनी दृष्टि में रखना चाहिए।) कुन्तक द्वारा व्याख्यान किये गये तीन कविमार्ग ये हैं—**१. सुकुमार मार्ग २. विचित्र मार्ग ३. मध्यम मार्ग**। कुन्तक ने इन मार्गों के चार गुणों का विवेचन किया है। जिनके नाम ये हैं—

१. माधुर्य गुण

२. प्रसाद गुण

३. लावण्य गुण

४. आभिजात्य गुण

ये चारों गुण कुन्तक के सुकुमार और विचित्र मार्ग में किंचिद् भिन्नता के साथ अपनी उपस्थिति रखते हैं। जैसे दण्डी के दश गुण वैदर्भ और गौड मार्ग में थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ पाये जाते हैं। इसलिए गुण और मार्ग के इस विवेचन में दण्डी और कुन्तक की समानता है। कुन्तक के इन चार गुणों के अतिरिक्त दो गुण ऐसे हैं जो अपने एक ही स्वरूप में तीनों मार्गों में पाये जाते हैं, वे हैं—

५. औचित्य गुण

६. सौभाग्य गुण

यही नहीं, कुन्तक के छह गुण अपने लक्षणों में दण्डी के दश गुणों को आत्मसात् करते हैं। इसके साथ ही दोनों आचार्यों की काव्य-रचना के सम्बन्ध में मूलदृष्टि का सातत्य कितना सत्य है, वह इस बात से भी जाना जा सकता है कि दण्डी ने काव्य वाङ्मय का १. स्वभावोक्ति और २. वक्रोक्ति के रूप में द्विधा विभाजन स्वीकार किया था, यह स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति ही प्रकारान्तर से वैदर्भ और गौड मार्ग अथवा सुकुमार और विचित्र मार्ग हैं।

कुन्तक के गुणों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(१) माधुर्य गुण

सुकुमार मार्ग में—समास-रहित मनोहर पदों का विन्यास जो श्रुतिपेशल हो और अर्थरमणीय भी हो। इन संयोगों से उत्पन्न हृदयाह्लादक पदबन्ध सुकुमार कवि-मार्ग का माधुर्य गुण है।[1]

विचित्र मार्ग में—ऐसा पदबन्ध जो शैथिल्य से रहित हो और वैदग्ध्य प्रदर्शक हो, कोमल भाव के अभाव में भी जिसमें एक सुन्दरता प्रतिभासित हो रही हो, वह विचित्र-मार्ग का माधुर्य गुण है।[2]

अब यहाँ पर हम कुन्तक की दृष्टि माधुर्य गुण के विवेचन में किस लक्ष्य को लेकर प्रवृत्त हुई है इसका थोड़ा विवेचन करेंगे। कुन्तक काव्य-रचना में सौन्दर्य की सृष्टि चाहते हैं। वह सौन्दर्य की सृष्टि विभिन्न कोटियों में हो सकती है। उन्होंने माधुर्य गुण के स्वरूप की स्थिति दोनों कवि-मार्गों में भिन्न रूप से बताई है। जहाँ सुकुमार मार्ग में माधुर्य गुण की स्थिति मनोहारी पदों के विन्यास में है वहाँ विचित्र मार्ग में वह माधुर्य गुण वैदग्ध्य-प्रदर्शक पदों के उल्वण पद-विन्यास में प्रकट होगा। अर्थात् कुसुम के सौरभ से भरी हुई लहलहाती लता का अपना अनोखा सौन्दर्य है, पर उसी तुलना में निर्धूम जलता हुआ अग्नि जिसमें घी की आहुतियाँ पड़ रही हों, उसकी लहलहाती ज्वालाएँ उन कुसुमित लताओं से किसी प्रकार हीन सौन्दर्य नहीं रखतीं। यद्यपि कुन्तक ने उदाहरणों से ऐसा

---

१. वक्रोक्ति, जीवित १।३०
असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः॥

२. वक्रोक्ति-जीवित १।४४
वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते।
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम्॥

सिद्ध नहीं किया है, पर उनके सिद्धान्त को इस सीमा तक पल्लवित किया जा सकता है।

(२) प्रसाद गुण

सुकुमार मार्ग में—रस और वक्रोक्ति विषयक अर्थ की सौन्दर्याभिव्यक्ति को जो पद-विन्यास सरलतापूर्वक उपस्थित कर देता है मानो अर्थ को पाठ के समकाल ही पाठक को अर्पित कर रहा हो, वह सुकुमार मार्ग का प्रसाद गुण है।[1]

विचित्र मार्ग में—यह प्रसाद गुण कुछ ओजस् को लेकर प्रवृत्त होता है और यह ओजस् समास-रहित पदों के विन्यास में प्रस्फुटित किया जाता है।[2] विचित्र मार्ग में प्रसाद गुण का दूसरा स्वरूप भी होता है, जहाँ वाक्य (पद, समुदाय) में दूसरे वाक्य अन्वित पदों के समान उसी व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हों, प्रसाद गुण का यह अपूर्व क्रम है जिससे पदबन्ध की सुन्दरता प्रस्फुटित होती है।[3] विचित्र मार्ग और ओजस् के स्पर्श का यह अर्थ नहीं है कि वह रचना वीर या रौद्र रस की होगी। श्रृङ्गार रस में ही सुकुमार तथा विचित्र मार्ग के काव्य-बन्धों का भेद क्या हो सकता है इसका दिग्दर्शन आचार्य कुन्तक करते हैं। सुकुमार मार्ग में प्रसाद गुण का उनका उदाहरण है—

अनेन सार्धं बिहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीत-लवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥

यह छन्द रघुवंश काव्य के इन्दुमती स्वयंवर से उद्धृत है। सखी इन्दुमती से कह रही है कि ये कलिङ्ग-राज हैं, इनके साथ उस समुद्र-तट पर विहार करो जो समुद्र-तट ताड़ के वन में उठनेवाली मर्मर ध्वनियों से गुञ्जित होता रहता

---

१. वक्रोक्ति-जीवित १।३१
अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम्।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स तु कथ्यते॥

२. वक्रोक्तिजीवित १।४५
असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते॥

३. वक्रोक्तिजीवित १।४६
गमकानि निबन्ध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि।
पदानीवात्र कोऽप्येषः प्रसादस्यापरः क्रमः।

है तथा जहाँ दूसरे द्वीपों से लवंग के फूल की सुगन्ध लेकर बहनेवाला पवन तुम्हारी सुरत-जन्य पसीने की बूँदें सुखाता रहेगा।

उक्त छन्द में पदों का विन्यास अपने आप ही कह रहा है कि यह सुकुमार-मार्ग की काव्य रचना है और पाठ के समकाल ही अर्थ का बोध उसके प्रसाद-गुण-युक्त होने का स्पष्ट परिचायक है।

अब शृङ्गार के भावों में ही विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण का उदाहरण देखिए—

अपाङ्गगततारका स्तिमितपक्ष्मपालीभृतः।
स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्रविद्योतिताः।
विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो
जयन्ति रमणेऽर्पिताः समदसुन्दरीदृष्टयः॥

मदमाती सुन्दरियों की अपने प्रियतम के प्रति अर्पित चितवन विजयशालिनी हो। जिस चितवन की पुतलियाँ आँख के कोने में चली गयीं हैं, पलकें स्थिर हैं, सौन्दर्य की कान्ति जिनसे बिखर रही है। मुस्कराहट के कारण जिस चितवन में और भी चमक आ गयी है। और जो चितवन विलास के हाव-भाव से मन्थर हो गयी है और जिस चितवन में एक भौंह की चञ्चलता देखते बनती है।

यहाँ पदों का विन्यास और अर्थ के सौन्दर्य का यह विस्तार विचित्र मार्ग का अपने-आप उदाहरण है। अर्थ की सरलता अपने-आप में प्रसाद गुण की द्योतक है।

इस प्रसङ्ग में कुन्तक के उक्त विवेचन की कसौटी पर आचार्य दण्डी के काव्यादर्श के कुछ उदाहरणों की भी परीक्षा की जानी चाहिए। यद्यपि दण्डी ने इस प्रकार और इसी रूप में गुणों का विभाजन नहीं किया है तो भी कुन्तक के लक्षण के अनुसार अनेक उदाहरण दण्डी के काव्यादर्श में मिलेंगे जो इस बात के द्योतक हैं कि काव्य-रचना में सौन्दर्य-दर्शन के सम्बन्ध में दोनों आचार्यों की दृष्टि प्रायः समान है। दण्डी में उसका उद्भव है और कुन्तक में उसका विस्तार।

दण्डी के काव्यादर्श के आगे उद्धृत उदाहरणों को देखिए, जो सुकुमार मार्ग और प्रसाद गुण की सरणि को व्यक्त करते हैं—

चारु चान्द्रमसं भीरु बिम्बं पश्यैतदम्बरे।
मन्मनो मन्मथाक्रान्तं निर्दयं हन्तुमुद्यतम्॥

(काव्यादर्श १।५७)

(भीरु प्रिये ! आकाश में इस मनोहर चन्द्र-बिम्ब को देखो, जो काम से पीड़ित मेरे मन को निर्दयता से मारने को उद्यत है।)

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि॥
(काव्यादर्श १।७०)

(मेघमालाओं से घिरे वर्षाकाल में अपने पंखों को मण्डलाकार फैला कर कण्ठ से मधुर केकाध्वनि करते हुए मयूर नाच रहे हैं।)

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः।
पारावतः परिभ्रम्य रिंरसुश्चुम्बति प्रियाम्॥
(काव्यादर्श २।१०)

(कण्ठ से मधुर क्वणन कर आँख की चितवन को घुमाता हुआ कपोत कपोती के चारों ओर घूम कर रमण की इच्छा से उसे चूम रहा है।)

कण्ठेकालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः।
जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीद् वृषध्वजः॥
(काव्यादर्श २।१२)

(जिनके कण्ठ में कालकूट का नीला चिह्न है, शिर पर द्वितीया का चन्द्र अलंकृत है, वे शिव हाथ में स्थित भिक्षा-पात्र कपाल तथा कोमल ताम्रवर्ण की फैली जटाओं में प्रकट हुए।)

कोकिलालापसुभगाः सुगन्धिवनवायवः।
यान्ति सार्धं जनानन्दैर्वृद्धिं सुरभिवासराः॥
(काव्यादर्श २।३५४)

(कोकिलों के कुहू-आलाप से सुन्दर वसन्त ऋतु के दिन, जिनमें वन का पवन सौरभ बिखेर रहा है, युवकों के आनन्द के साथ उल्लसित हो रहे हैं।)

अब काव्यादर्श के ही दूसरे उदाहरणों को देखिए, जिनमें कुन्तक का विचित्र मार्ग तथा प्रसाद गुण भलीभाँति परिलक्षित है—

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा।
पीनस्तन-स्थितातात्रवस्त्रेवाभाति वारुणी॥
(काव्यादर्श १।८२)

(अस्ताचल के शिखर पर सूर्य की सुनहली किरणों से आवृत पश्चिम दिशा ऐसी शोभित हो रही है जैसे उसके पीन स्तनों पर ताम्ररंग का उत्तरीय पड़ा हो।)

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता॥

(काव्यादर्श २।१३९)

(जीवित रहने की मेरी इच्छा प्रबल है, धन की अभिलाषा दुर्बल है, कान्त! तुम जाओ या रहो, (मैं क्या कहूँ) मैंने अपनी मनःस्थिति का निवेदन कर दिया।) यह पद्य कुन्तक के अनुसार वाक्य में गमक (समर्पक) वाक्यों के निबन्धन का उदाहरण है, ऐसा ही दूसरा छन्द देखिए—

अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः।
अदत्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम्॥

(काव्यादर्श २।२८४)

(समुद्र तक पृथ्वी को विजय किये विना, अनेक यज्ञों से देवों को प्रसन्न किये विना तथा याचकों को यथेष्ट धन दिये विना मैं राजा कैसे बनूंगा।)

मधुरा रागवर्धिन्यः कोमलाः कोकिलागिरः।
आकर्ण्यन्ते मदकलाः श्लिष्यन्ते चासितेक्षणाः॥

(काव्यादर्श २।३१७)

(वसन्तकाल में राग को बढ़ानेवाली कोकिलों की मीठी तथा कोमल कुहू-कुहू ध्वनि जैसे-जैसे सुनी जा रही है वैसे-वैसे (हर्ष में) प्रेम से मदमाती काली चितवन में निहारती युवतियाँ आलिंगन की जा रही हैं।)

अपीत - क्षीबकादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम्।
अप्रसादितशुद्धाम्बु जगदासीन्मनोहरम्॥

(काव्यादर्श २।२००)

(शरद ऋतु में सारी प्रकृति मनोहर हो गयी, कलहंस कमल का मकरन्द पिये बिना ही मतवाले हो रहे हैं, आकाश विना धोये ही स्वच्छ हो गया, नदी और सरोवरों का जल विना प्रशोधन के निर्मल चमक रहा है।)

(३) लावण्य गुण

सुकुमार मार्ग में—वर्ण-विन्यास का सौन्दर्य मात्र ही जहाँ रचना का सौष्ठव हो, वह लावण्य गुण है। पद-योजना का सौन्दर्य ही प्रकारान्तर से लावण्य गुण है। इस पद-योजना में अर्थ की योजना भी सम्मिलित है।[१]

विचित्र मार्ग में—जहाँ पद परस्पर मिले हुए हों, विसर्ग का लोप न हुआ हो तथा संयुक्त अक्षरों के पहले ह्रस्व वर्ण हों, वहाँ पदों में विचित्र मार्ग का लावण्य गुण होता है।[२]

दोनों मार्ग के लावण्य गुण के जो उदाहरण यहाँ कुन्तक ने दिये हैं उनमें विचित्र मार्ग के लावण्य गुण का उदाहरण अधिक स्पष्ट और लक्षण संगत है। वह यह है—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरा - पाण्डुर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते।
तत् पल्लीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रांशुकैर्मा पिधाः॥

(हाथियों का झुण्ड अपने मस्तक के कुम्भों को अभय करने के लिए, जिससे उनका विदारण न हो शबरी के मुखिया की पुत्री से प्रार्थना कर रहा है कि हे पल्लीपति-पुत्री! तुम्हारे दोनों स्तन जो कुछ-कुछ पकते हुए तेंदू के फल के समान बीच में श्याम वर्ण हैं शबर युवक के हाथ से स्पर्श करने योग्य जिनका आकर्षण है, इनको तुम वन के पत्तों-रूपी वस्त्र से आच्छादित न करो, मेरे ऊपर कृपा कर खुला रहने दो)

इस उदाहरण में परिभाषा के अनुसार सारे पद परस्पर ओत-प्रोत हैं तथा संयुक्ताक्षरों के पूर्व लघु वर्ण हैं, केवल विसर्ग का योग इस छन्द में नहीं बन पाया है। कुन्तक के लावण्यगुण का लक्षण रचना में घटित हो रहा है।

---

१. वक्रोक्ति-जीवित १।३२
वर्णविन्यासविच्छित्ति - पद - सन्धानसम्पदा।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते॥
शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते।

२. वक्रोक्ति-जीवित १।४७
अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते॥

(४) आभिजात्य गुण

सुकुमार मार्ग में—कानों को सुनने में कोमल और सुखद वर्णों की योजना, स्वाभाविक रूप से कोमलता से युक्त पदों का विन्यास अभिजात्य गुण है।[1]

सुकुमार मार्ग के ही माधुर्यगुण से इसका भेद यह है कि वहाँ पदों का विन्यास मनोहारी होता है यहाँ श्रुति-पेशल (कानों को अच्छा लगने वाला)। इसका उदाहरण है—

ज्योतिर्लेखावलयिगलितं यस्य बर्हं भवानी,
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं,
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥[2]

[यक्ष मेघ से कह रहा है कि देखो देवगिरि पर कुमार स्कन्द निवास करते हैं वहीं उनका वाहन मयूर होगा। तब तुम अपनी उस गर्जना से जिससे देवगिरि पर्वत की गुफायें गूँज उठें, उस मयूर को नचा देना, जिससे मयूर का कटाक्ष भाग शिव के शिर पर स्थित चन्द्रमा से आँखमिचौनी करने के कारण उज्ज्वल है तथा नृत्य के समय प्रकाश के वलय से युक्त जिसके गिरे हुए पंख को पार्वती पुत्रप्रेम से कान के आभूषण के रूप में वहाँ धारण करती है जहाँ नील कमल धारण किया जाता है।)

विचित्र मार्ग में—जो न अधिक कोमल हो और न अधिक कठोर हो, ऐसा मनोहर पदबन्ध विचित्र मार्ग का आभिजात्य गुण होता है।[3]

विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण और इस आभिजात्य गुण में भेद की रेखा बड़ी सुकुमार है। प्रसाद में किञ्चिद् ओज का स्पर्श होता है और आभिजात्य गुण में ओजस् अर्थात् काठिन्य कोमलता की तुलना में बराबर हो जाता है। इसका उदाहरण है—

---

१. वक्रोक्ति-जीवित १।३३
श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा।
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते ॥

२. पूर्वमेघ ४८

३. वक्रोक्ति-जीवित १।४८
यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्।
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम् ॥

अधिकरतल-तल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपति - केलीयौवराज्याभिषेकम्॥

(हे सुन्दरी! कहो तो, तुम्हारी यह कपोलस्थली, जो प्रियतम की चिन्ता में हथेली की शैय्या पर शयन कर रही थी, उस शयन में हथेली की रगड़ से जो पीलापन छोड़कर लाल हो गयी है, कामदेव रूपी राजा के विलास रूपी युवराज पद पर किसका अभिषेक सूचित कर रही है?)

कुन्तक के सुकुमार मार्ग तथा विचित्र मार्ग के गुणों का अलग-अलग स्वरूप यही है। अपने इन गुणों के साथ दोनों मार्गों का लालित्य जहाँ स्पर्धा-पूर्वक किसी रचना में विद्यमान होता है, वह कवियों की काव्य-रचना का मध्यम मार्ग है। इसमें सहज तथा आहार्य दोनों कवि-प्रतिभाओं की रचना का शोभातिशय विद्यमान रहता है।[1]

उक्त चारों गुणों के अतिरिक्त, जो अपने स्वरूप भेद से दोनों मार्गों में पाये जाते हैं, कुन्तक ने काव्य-रचना के दो ऐसे अन्य गुणों का विवेचन किया है जो प्रत्येक कवि-मार्ग में अपने एक ही स्वरूप से स्थित होते हैं, उन्होंने इनको साधारण गुण की संज्ञा दी है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

औचित्य गुण—जहाँ काव्य-रचना में वस्तु को उसके स्वभाव तथा उचित देश, काल, रूप के साथ उपस्थित किया जाये और जहाँ वक्ता अथवा श्रोता की दृष्टि से वस्तु का निबन्धन (वाच्य) स्वाभाविक रमणीयता से ओत-प्रोत हो—ये दोनों स्थितियाँ औचित्य गुण को उल्लसित करती हैं।[2]

---

१. वक्रोक्तिजीवित १।४९-५१
वैचित्र्यं सौकुमार्यञ्च यत्र सङ्कीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी॥
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः॥

२. वक्रोक्ति-जीवित १।५३, ५४
आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥
यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते॥

सौभाग्य गुण—जिस काव्य-रचना में कवि की प्रतिभा विशेष रूप से सावधान तथा प्रयत्नशील होकर प्रवृत्त हो, उस रचना के समस्त लालित्य को सम्पादन करने का कवि-संरम्भ सौभाग्य गुण है।[1]

लक्षणों से यह स्पष्ट है कि कुन्तक ने इन दोनों गुणों के स्वरूप में बहुत सूक्ष्म अन्तर रखा है। पहले के चार गुण जहाँ लक्षण के अनुसार शब्द तथा पद-विन्यास के लालित्य की सृष्टि करते हैं, वहाँ अन्त के दोनों गुण औचित्य और सौभाग्य काव्य-रचना के अलौकिक क्षण में उन्मिषित कवि-प्रतिभा की रचमान अन्तर्वृत्ति का निरूपण करते हैं। कवि-संरम्भ का स्वरूप क्या हो, कदाचित् संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य कुन्तक द्वारा यह प्रथम विवेचन है, जिसे उन्होंने औचित्य और सौभाग्य गुण में स्फुट किया है। उनके अनुसार ये गुण काव्य-रचना के शब्द, पद, वाक्य से लेकर प्रबन्ध (वस्तु-निबन्धन) तक विद्यमान होते हैं।[2]

एक प्रकार से देखा जाय तो कुन्तक के गुणों की संख्या भी दश है। प्रथम चार गुण सुकुमार तथा विचित्र मार्ग में अलग-अलग स्वरूप से स्थित होते हैं, इसलिए ये संख्या में वस्तुतः आठ हो गये, तथा दो गुण औचित्य और सौभाग्य, जो सर्वसामान्य हैं, इनके साथ मिलकर दश हो जाते हैं। पर ये दश गुण अपने स्वरूप में दण्डी के दश गुणों के समान नहीं है, यह कहा जा सकता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि बिल्कुल भिन्न हैं, स्वरूप के गठन में भिन्नता होने पर भी अवयव का साम्य अद्भुत है जो यह सिद्ध करता है कि दोनों आचार्यों ने काव्य-रचना के सौन्दर्य-दर्शन में एक समान समाधि-योग में अपने को स्थापित किया है। ऐसा लगता है कि दण्डी के लक्षणों को व्यस्तरूप से बिखेर कर आचार्य कुन्तक ने उनको अपनी दृष्टि के अनुसार माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, आभिजात्य गुणों के स्वरूप-गठन में प्रयुक्त किया है। किन्तु व्यस्तरूप से बिखेरने का काम कुन्तक ने

---

१. वक्रोक्तिजीवित १।५५-५६

इत्युपादेयवर्गेस्मिन् यदर्थं प्रतिभाकवेः।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ।।
सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ।।

२. वक्रोक्ति-जीवित १।५७

एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ।।

नहीं किया, कई शताब्दियों के बीच काव्य-रचना में सौन्दर्य स्फुट करनेवाले कवियों और उनकी काव्य-गोष्ठियों ने किया।

व्यस्त रूप से दोनों आचार्यों के गुण-लक्षणों में जो समानता है उसके कुछ उदाहरण लीजिए। विचित्र मार्ग में कुन्तक प्रसाद गुण का लक्षण इस प्रकार करते हैं---कवियों द्वारा रचना में अत्यन्त प्रिय समस्त पदों से रहित कुछ-कुछ ओजस् का स्पर्श करता हुआ प्रसाद गुण इस विचित्र कवि-मार्ग में होता है।[1] प्रायः यही लक्षण आचार्य दण्डी ने वैदर्भ काव्य में कवियों द्वारा प्रयुक्त ओजो-गुण का किया है---'दूसरे वैदर्भ कवि वाणी के उस ओज को पसन्द करते हैं जो अनाकुल (समस्त पद-रहित) तथा मनोहारी हो'।[2] इसी प्रकार सुकुमारमार्ग के अभिजात्य गुण का लक्षण है---जो श्रुति-पेशल हो, मन को सुखद स्पर्श-सा लगे, जिसके पद-न्यास में स्वाभाविक कोमलता हो।[3] दण्डी के माधुर्य गुण के लक्षण का एक भाग भी उससे मिलता-जुलता है अनुप्रास-सहित पदों की समीप स्थिति जो समान श्रुति की अनुभूति से श्रुति-पेशल बन जाती है, माधुर्यगुण में रसावह होती है।[4]

कुन्तक ने सुकमार मार्ग के विवेचन में लिखा है कि जैसे फूले हुए वन में भ्रमर मुग्ध होकर चलते हैं वैसे ही सत्कवियों का यह निसर्ग मार्ग है---

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्ल-कुसुमकाननेनेव षट्पदाः॥

(वक्रोक्ति-जीवित १।२९)

दण्डी ने माधुर्य गुण के लक्षण में भी प्रायः इसी विशेषता को लक्ष्य किया था---वाणी और वस्तु में रस की स्थिति माधुर्य गुण है जिसको पढ़कर सहृदय ऐसे ही आनन्दित होते हैं जैसे पुष्प का मधु-रस पीकर भौंरे---

---

१. वक्रोक्तिजीवित १।४५ (पीछे देखिए)

२. काव्यादर्श १।८३
अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा।

३. वक्रोक्तिजीवित १।३३ (पीछे देखिए)

४. काव्यादर्श १।५२
यया कयापि श्रुत्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधनेव मधुव्रताः।
(काव्यादर्श १।५१)

काव्य-रचना में सौन्दर्य को प्रकट करनेवाले मार्ग और गुणों के लक्षण और विवेचन का जो आरम्भ दण्डी ने एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में किया था, वह सिद्धान्त शतियों तक वामन के गुण तथा रीति एवं आनन्दवर्धन के गुण एवं संघटना के भ्रमजालों से टकराता हुआ किस प्रकार काव्य-सौन्दर्य के अन्तःद्रष्टा कुन्तक के वक्रोक्ति-प्रवाह में भींगकर पुनः उल्लसित और हरित हुआ, इसका कोई ऐतिहासिक तारतम्य नहीं है, जो तारतम्य है वह काव्य-रचना के सत्य सौन्दर्य का है। दण्डी तथा कुन्तक दोनों काव्य-लालित्य के गूढ़ अन्वेषी हैं। दण्डी का स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति या वैदर्भ और गौड मार्ग प्रायः उसी रूप में कुन्तक का सुकुमार तथा विचित्र कवि-मार्ग है। और गुणों में जो साम्य है वह ऊपर दिखाया जा चुका है। अतः दोनों आचार्यों की दृष्टि की एकता के पीछे एक ही सत्य या रहस्य है कि काव्य-रचना के सौन्दर्य का उद्भव शब्द का अनुपम विन्यास है और यह कवि की काव्य-रचना का पक्ष है, रचमान-क्षण का रहस्य है, इसी रहस्य के उद्घाटन में दण्डी के काव्यादर्श के प्रथम-परिच्छेद का सैद्धान्तिक विवेचन है। इसका अलङ्कार से कोई तारतम्य नहीं है, तथा इसी प्रकार वक्रोक्तिजीवित का प्रथम उन्मेष मार्ग तथा गुणों के विवेचन में उक्त सिद्धान्त को ही पल्लवित करता है। यद्यपि यह मानकर चलना होगा कि अभी इस सिद्धान्त की समग्र व्याख्या नहीं हुई है।

अलङ्कार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्य-रचना के सौन्दर्य-उद्घाटक पक्ष हैं दूसरे शब्दों में काव्य के अर्थ-बोध हैं, सौन्दर्य की व्याख्या हैं, स्वयं न काव्य हैं और न उसका सौन्दर्य हैं। काव्य-रचना और काव्य का अर्थ-बोध–ये दो पक्ष हैं। जो स्व-स्व रूप से काव्य-तत्त्व-वेत्ता के मन को मुग्ध करते हैं। कवि की जो रचना-पद्धति या रचना-क्षण है वह अत्यन्त स्पष्ट है, आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में तथा कुन्तक ने भी वक्रोक्तिजीवित के प्रथम उन्मेष में यही स्वीकार किया है कि कवि की काव्य-रचना को सरस्वती स्वयं संघटित करती है,[1] अर्थात्

---

१. ध्वन्यालोक ४।१७

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती॥
वक्रोक्ति जीवित १।

कवि अपने रचना-क्षण को जानता नहीं, वह अपने काव्य को तब देखता है जब काव्य रच उठता है और कवि स्वयं रचमान क्षण से मुक्त हो जाता है। पर यह भी कठिन है कि इस रचमान क्षण की इदमित्थं व्याख्या कैसे की जा सकती है, जब कवि भी उसे नहीं जानता। अलंकार, ध्वनि तथा वक्रोक्ति तो काव्य के अर्थ-बोध, सौन्दर्य-बोध की व्याख्या हैं; जिनको रचनाकार सहज कवि रचना की सृष्टि के क्षण में सोचता भी न होगा। अतः आवश्यक यह है कि काव्य-रचना तथा काव्य के सौन्दर्य बोध के अलग-अलग पक्ष स्वीकार किये जायें, अब तक प्रायः सब कुछ सौन्दर्य-बोध पर ही लिखा गया है, तत्त्वान्वेषी सहृदय इस प्रयत्न को करके देखें कि क्या प्रथम पक्ष अर्थात् काव्य-रचना के रचमान क्षण पर भी कुछ लिखा जा सकता है। काव्यादर्श तथा वक्रोक्तिजीवित के प्रथम अध्याय इसमें सहायक होंगे।

गुण काव्य का सौन्दर्य है या उसका सौन्दयबोध, रचना या रचना का अर्थ—इस प्रकार का कुछ आभासित प्रश्न दण्डी के बाद काव्य-गोष्ठियों में, कवियों को अपनी रचना-वृत्तियों में सामने आया होगा। इसी के फलस्वरूप वामन (८वीं शती ई०) ने दण्डी द्वारा अभिहित गुणों को शब्द तथा अर्थ दो कोटियों में रखकर उनके स्वरूप का विवेचन किया। वामन का विवेचन उनके सामने काव्य-गोष्ठियों में हो रहे प्रयोगों का प्रतिफल था। एक तरह से वह गुण का उत्कर्ष-काल था जब कवियों को इस गुण-सिद्धान्त ने सर्वाधिक आकर्षित किया, तथा यह भी कि कवियों ने अपने ढंग से गुणों के शब्द-स्वरूप और अर्थ-स्वरूप को रचनाओं में व्यवहृत किया। प्रयोग की इस स्वतन्त्रता का आभास वामन के गुण-निरूपण से चलता है, गुणों के लक्षण शब्दगत और अर्थगत परस्पर विरुद्ध से लगते हैं, जैसे शब्दश्लेष का लक्षण है—

मसृणत्वं श्लेषः।

(काव्यालंकार सूत्र ३।१।१०)

अर्थात् जिसमें अनेक पद एक समान भासित हों। अर्थश्लेष का लक्षण है—

घटना श्लेषः।

(का० सू० २।४)

घटना का अर्थ है—क्रम-कौटिल्य-अनुल्बणत्व की उपपत्ति का योग। पर यह उपपत्ति शब्द की होगी या अर्थ की, इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। परन्तु यह है कि शब्द-श्लेष में जहाँ अनेक पद एक समान भासित होते हैं वहीं अर्थ-श्लेष में क्रम का कौटिल्य एवं अनुल्बणत्व योग कवि को इष्ट होता है। वामन ने यहाँ अमरुक का

उदाहरण दिया है तथा लिखा है कि शूद्रक आदि के प्रबन्धों में इसका बहुत प्रपञ्च देखने को मिलता है। इससे यह लक्षित होता है कि वामन ने देश-विशेष के कवियों में गुण-विशेष के व्यवहार किये जाने की खोज की है।

कुछ मूलभूत बातें भी वामन ने कही हैं, जो उनकी सौन्दर्य-दृष्टि की सत्यता को प्रमाणित करती हैं, उन्होंने प्रसाद शब्द-गुण का लक्षण किया है—

शैथिल्यं प्रसादः।

(का० सू० १।६)

अर्थात् पद-बन्ध की शिथिलता प्रसाद गुण है। पर यह लक्षण ओजोगुण का विपर्यय हो गया—

गाढबन्धत्वमोजः।

(का० सू० १।५)

क्योंकि पद का गाढबन्धत्व ओजोगुण है, और जब पदबन्ध का शिथिल होना ओज का अभाव या उसका विपर्यय है तब यह प्रसाद स्वतन्त्र गुण कैसे माना जाए? इसका उत्तर फिर उन्होंने स्वयं दिया है कि प्रसाद गुण ओज के साथ संप्लावित होता ही है जैसे सुख-दुःख साथ होते हैं अतः दोनों की सत्ता है। ओज और प्रसाद का यह संयोग कुन्तक को भी स्वीकार है विचित्र मार्ग में उनके प्रसाद गुण का लक्षण है—

असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोप्यत्र वर्तते।

अर्थात् कवियों का प्रिय प्रसाद गुण समस्त पदों से रहित कुछ-कुछ ओज को स्पर्श करता हुआ प्रवृत्त होता है।

वामन के गुण-विवेचन की दृष्टि गुण की स्वतन्त्र सत्ता के प्रति श्रद्धायुक्त नहीं है, उन्होंने काव्य के शोभाकारक धर्मों को गुण कहा है किन्तु शोभा के अतिशय कारण के रूप में उनको अलंकार ही ग्राह्य है। उन्होंने अलंकार को सीधे काव्य का सौन्दर्य कहा है—

सौन्दर्यमलङ्कारः।

(का० सू० १।२)

और रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है तथा रीति है विशिष्ट पदों की रचना और यह विशेषता गुणों से आती है—

रीतिरात्मा काव्यस्य।
विशिष्टा पदरचना रीतिः।
विशेषो गणात्मा।

(का० सू० २।६-८)

अतः वामन का गुण रीति में तथा अलंकार में अन्तर्भूत है। काव्य में गुण का क्या स्थान है, क्या वह स्वतन्त्र है—इसका निश्चय वामन नहीं कर पाते। दण्डी तथा कुन्तक ने स्पष्ट रूप से गुणों को कवि की रचना-वृत्ति स्वीकार किया है, या रचना-व्यापार होने का संकेत किया है। वामन गुण को अलंकार के शब्दार्थगत विभाजन की तरह शब्द तथा अर्थ गुणों में बाँट देते हैं, जो सत्य नहीं था, इसीलिए उन्हें किसी-किसी की परिभाषा हठात् करनी पड़ी है, जैसा उदारता (अर्थ गुण) और समाधि (शब्द-गुण) का यह लक्षण करना पड़ा है—

विकटत्वमुदारता। (शब्द गुण)
अग्राम्यत्वमुदारता। (अर्थ गुण)
आरोहावरोहक्रमः समाधिः। (शब्दगुण)
अर्थदृष्टिः समाधिः। (अर्थ गुण)

अर्थ के अग्राम्यत्व को उदारता (अर्थगुण) कहना तथा पदों के आरोहावरोह क्रम को समाधि (शब्दगुण) का लक्षण करना हठ-पूर्वक ही लक्षण की खोज करना है। अग्राम्यत्व के बिना कोई काव्य अपने सौन्दर्य को प्रस्फुटित नहीं करेगा। तथा काव्य में पदों के विन्यास का आरोहावरोह क्रम बहुत कुछ छन्द के लक्षण पर निर्भर है, वामन ने जो उदाहरण दिये हैं वे छन्द की गति के अधिक सूचक हैं। समाधि गुण के कम —

निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे।
नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः॥

गुण-सिद्धान्त की स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार करने के कारण आचार्य वामन द्वारा गुण का व्याख्यान जैसा होना चाहिए था, न हो सका।

वामन के पश्चात् और कुन्तक के समीप जिन आचार्यों का ध्यान विशेष रूप से गुण की ओर आकृष्ट हुआ, वे हैं—आनन्दवर्धन तथा भोज। आनन्दवर्धन की दृष्टि गुण के प्रति अभावमूलक थी, अतः उन्होंने 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में संघटना का निरूपण कर गुण के तिरोभाव का मार्ग प्रशस्त करना चाहा है, यहाँ

हम उसके विस्तार में नहीं जाना चाहते, यह हमारे इस निबन्ध का विषय नहीं है। हम इतना कहना चाहेंगे कि जहाँ उन्होंने गुणों और संघटना के स्वरूप पर कुछ कहा है, वह दण्डी के गुण-विवेचन से ही ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। आनन्दवर्धन ने रौद्र रस के प्रसंग में ओजोगुण की व्याख्या को दो भागों में बाँट दिया है—अर्थात् 'ओजोगुण को व्यक्त करनेवाले शब्द लम्बे समासों की रचना से युक्त होते हैं[1] और उसे व्यक्त करनेवाला अर्थ समस्त पदों से रहित प्रसन्न शब्दों में अभिहित होता है।[2] ओजोगुण का यही विभाजन दण्डी को भी गौड तथा वैदर्भ कवि-मार्गों के लिए अलग अलग स्वीकार है—अर्थात् समास बहुल ओज गद्य का प्राण है।[3] वैदर्भ कवि वाणी के उस मनोहारी ओज को पसन्द करते हैं जो समास से आकुल न हो।[4]

भोज ने वामन की ही तरह गुणों के विस्तार की कल्पना की है, वे गुण की स्वतन्त्र सत्ता के व्याख्यान के प्रति सचेष्ट नहीं है। उन्होंने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में अन्य काव्य-सिद्धान्तों के साथ ही गुण के प्रकरण को भी लिया है। गुण को उन्होंने बाह्य, अन्तर तथा वैशेषिक तीन वर्गों में विभाजित किया है। बाह्य वर्ग शब्द गुणों का है, आन्तर अर्थ गुणों का है तथा वैशेषिक गुण वे हैं जो दोष होकर भी गुण होते हैं। शब्द तथा अर्थ गुणों के २४-२४ भेद हैं एवं वैशेषिक गुणों की संख्या पद, वाक्य, वाक्यार्थं वर्ग-भेद से भूयसी है। भेदों के इस गणितानुरूप विभाजन से स्पष्ट है कि भोज की दृष्टि गुणों की उस मूल एवं स्वतन्त्र प्रकृति के प्रति जागरूक नहीं है जिस प्रकृति में कवि के अनजाने रचमान क्षण में काव्य का सौन्दर्य रचना में उदित हो जाता है। गुण-सिद्धान्त और काव्य-रचना का जो प्रायोगिक व्याख्यान दण्डी एवं कुन्तक द्वारा किया गया है वह अन्यत्र नहीं है, पर अभी उस परम्परा में काव्य-सौन्दर्य के मूल उत्स का विवेचन अपेक्षित है और वह गुण-सिद्धान्त को पल्लवित करने में है।

•

---

१. ध्वन्यालोक २।९ की वृत्ति।

२. वही,
तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः।

३. काव्यादर्श १।८०
ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।

४. वही, १।८३
अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा।

६. रस-सिद्धान्त में चर्वणातिरिक्त काल

भारतीय साहित्य चिन्तन में रस-सिद्धान्त का विवेचन प्राचीन है। यद्यपि इसका उल्लेख पहली बार भरत के नाट्य-शास्त्र में हुआ लेकिन निश्चित रूप से वह भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व अपने अस्तित्व में विद्यमान रहा है। भरत के नाट्य-शास्त्र की रचना पहली शती ई० के आस-पास स्वीकार की जाती है, तो रस-सिद्धान्त की स्थापना का काल उससे भी पाँच सौ वर्ष पुराना माना जाना चाहिए। रस का स्वाभाविक और सहज पर्याय है आनन्द। जहाँ यह कहा जाता है कि 'नाट्य-दर्शनेन रसम् अनुभवन्ति अथवा रसम् आस्वादयन्ति' वहाँ उसका अर्थ यही है कि आनन्द का अनुभव करते हैं आनन्द का आस्वादन करते हैं। इसी आनन्द के पर्याय के फलस्वरूप उस परमात्मा या ब्रह्म को भी रस कहा जाता है—**रसो वै सः**। किन्तु नाट्य-अभिनय या नाटय-रचना में यह आनन्द मन का वासनाजन्य आनन्द होता है। परमात्मा के साक्षात्कार या समाधि में उनकी अनुभूति का जो आनन्द है वह आत्मा के स्वप्रकाश से उद्भूत वासनाओं से सर्वथा उन्मुक्त या स्वतन्त्र होने का आनन्द है। इसलिए दोनों आनन्दों की कोई तुलना नहीं की जा सकती है दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। शैव दर्शन का चिन्तन करनेवाले नवीं से ग्यारहवीं शती के बीच काश्मीरक आचार्यों ने, जिनमें महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तपाद मुख्य हैं, इस रस-दर्शन को शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समकक्ष कसौटी पर रखा और इसको लोकोत्तर आनन्द की संज्ञा दी। उनकी यह लोकोत्तर आनन्द संज्ञा कहाँ तक समीचीन है, आगे विचार किया जायगा। हम यहाँ पर इस चिन्तन का आरम्भ उस ऐतिहासिक दृष्टि के उन्मीलन के साथ करना चाहेंगे जिसके फलस्वरूप रस-सिद्धान्त की यह सर्वोच्च महिमा साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठापित हुई।

भरत मुनि ने पहली शताब्दी ई० के आस-पास अपने नाट्य-शास्त्र में नाट्य-अभिनय के प्रसंग को लेकर, और अभिनय हमारे मनोभावों के प्रस्तुतीकरण के द्वारा कितना मनोरम, रमणीय और आनन्दमय हो जाता है, इस भूमिका पर विचार करते हुए रस-निष्पत्ति की व्याख्या में इन सूत्रों की रचना की है—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

(नाट्यशास्त्र ६।३१)

भरत मुनि ने रंगमंच, संगीत आदि के सम्बन्ध में अपना व्याख्यान समाप्त कर कहा कि अब मैं पहले रस का व्याख्यान करूँगा क्योंकि रस के बिना नाटक में किसी अर्थ-वस्तु की अवतारणा नहीं की जा सकती है और रस की निष्पत्ति होती है विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के परस्पर संयोग से। भरत मुनि ने इस सम्बन्ध में अपनी रस-दृष्टि को आगे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा कि जैसे अनेक प्रकार के व्यञ्जन, ओषधि आदि भोज्य द्रव्यों के संयोग से भोजन में सुस्वादु रस निष्पन्न हो जाता है उसी प्रकार नाना मनोभावों के संयोग से स्थायी भाव रस (आनन्द) के रूप में परिणत हो जाता है। अथवा जैसे गुड़ आदि वस्तु-द्रव्यों व्यञ्जनों और ओषधियों के संयोग से षाडव रस निष्पन्न होता है वैसे ही नाना भावों के संयोग से स्थायी भाव रसत्व (आनन्द) की कोटि में पहुँच जाते हैं।[1] यहाँ पर भरत मुनि ने रस के आनन्द के सम्बन्ध में दो दृष्टान्त दिये हैं एक तो भोज्य द्रव्य का और एक षाडव रस का। इन दृष्टान्तों से ऐसा लगता है कि भरत का लक्ष्य या उनकी रस-दृष्टि बिल्कुल सहज है और लौकिक है। उनके इन दृष्टान्तों से भरत के मन्तव्य को समझने में हमें सुविधा होती है कि उनकी आनन्दमय रस-कल्पना घन और तरल दोनों रूपों में होगी। भोज्य द्रव्य घनत्व के प्रतीक हैं और षाडव रस तरलत्व का।

अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है कि रस क्या पदार्थ है—

रस इति कः पदार्थः?
उच्यते, आस्वाद्यत्वात्।
कथमास्वाद्यते रसः।

---

१. नाट्यशास्त्र अध्याय ६।३१वीं कारिका का गद्य—को दृष्टान्तः? अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधि-द्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रस-निष्पत्तिः।

यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

यथा हि नाना व्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्तीति, 'सुमनसः' पुरुषा इत्यभिव्याख्याताः। तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वाङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्तीति प्रेक्षकाः 'सुमनस' इत्यभिव्याख्याताः। तस्मान्नाट्यरसाः।

अर्थात् रस एक आस्वाद्यमान पदार्थ है और उसका आस्वादन नाट्यप्रेक्षक या सहृदय लोग करते हैं, जैसे नाना व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए सम्बन्धित रसों का आस्वादन होता है और उससे हर्ष आदि की प्राप्ति होती है उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों के अभिनय के द्वारा अभिव्यक्त तथा वाणी शरीर एवम् सत्त्व के अभिनयों से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन होता है और हर्ष आदि की प्राप्ति होती है। नाट्य-अभिनय को देखने-वाले दर्शक रूप में उपस्थित शोभन मन वाले सज्जन इसका आस्वादन करते हैं और चूंकि यह आस्वादन नाट्य के अभिनय में होता है इसीलिए इसे नाट्य-रस कहा जाता है।

अभिनवगुप्त ने भरत के मूल की व्याख्या करते हुए लिखा कि यत: रस शब्द की प्रसिद्धि मधुर आदि रसों में, पारद, विषय, सार, जल के संस्कार, काढा, देह के धातु अभिनिवेश आदि अर्थों में है इसलिए नाट्य शास्त्र में रस का क्या अर्थ है इसकी व्याख्या करनी पड़ी और भरत मुनि ने कहा—यह पदार्थ नाट्य में उपस्थित है क्योंकि इसका आस्वादन होता है—आस्वाद्यत्वात्। उन्होंने आगे स्पष्ट किया कि नाट्य में रस एक क्रिया है, क्रिया ही उसका स्वरूप है, क्रिया ही उसका आस्वादन है।[1] जो स्थायी भाव रस रूप में आस्वादन किए जाते हैं उनकी संख्या नौ है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

रति	शृङ्गार
हास	हास्य
शोक	करुण
क्रोध	रौद्र
उत्साह	वीर

१. नाटयशास्त्र अध्याय ६।३१वीं कारिका गद्य की अभिनव भारती। प्रश्नमन्तरेण च आस्वाद्यत्वात् इत्यल्पदप्रायमित्यास्तामेतत्। कर्तृकर्मफलसादृश्याद् विभावादिजः प्रतीतिविशेषो रसनाक्रिया इति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम्—अ० भा०।

भय	भयानक
जुगुप्सा	बीभत्स
विस्मय	अद्भुत
शम	शान्त

इनमें से प्रथम आठ रस जीवन में प्रवृत्ति की क्रियाकारिता रखते हैं तथा नवम शान्तरस जीवन की निवृत्ति क्रिया का द्योतक है।

नाट्यशास्त्र के अभिनय के प्रसंग में रस की उक्त स्थापना के प्रति एक सहज तथा स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि अभिनय के रंगमंच पर जो पात्र कथा में आये व्यक्तियों की वेश-भूषा बना कर अवतरित होते हैं, कथा-वस्तु के व्यक्तियों की नकल उतारते हैं, यथार्थ में वह सब कुछ असत्य है, कथा की सत्यता स्वीकार की जा सकती है यदि वह इतिहास तथा पुराण से उद्भूत है। किन्तु आज का सन्दर्भ तो उसका असत्य है। एवं जो कथाएँ प्रकरण, भाण आदि अन्य रूपकों में अवतरित की जाती हैं जो कल्पित कथा-वस्तु के ही प्रबन्ध होते हैं, वे तो असत्य हैं ही। इस प्रकार जो कथावस्तु अभिनीत की जा रही है वह या तो परोक्ष है अथवा असत्य है और अभिनय अनुकरणमात्र है वह सत्य नहीं है। दूसरी ओर रस-सिद्धान्त की मान्यता इसके विपरीत नाट्य रंगमंच के इस अनुकरण में स्थायी भावों की प्रत्यक्ष सत्ता का बोध और अभिव्यक्ति है। तब यह जिज्ञासा स्वाभाविक हो जाती है कि असत्य से सत्य की ओर अनुकरण से प्रत्यक्ष की यह बोध-प्रक्रिया किस अन्तः-व्यापार का परिणाम है? अर्थात् रस-सिद्धान्त की सत्ता कहाँ स्थित है, कहाँ से उजागर हो रही है? इसी जिज्ञासा में तात्त्विक-चिन्तन की प्रक्रिया आरम्भ हुई। वस्तुतः रस-सिद्धान्त का यह समस्त तत्त्व-विश्लेषण मन की सनातन अन्तःप्रक्रिया का लेखा-जोखा है जिसे कश्मीरी आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है, आगे उस पर विचार किया जाता है।

उक्त तात्त्विक चिन्तन की प्रक्रिया कब से आरम्भ हुई, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर इस चिन्तन की सुव्यवस्थित भूमिका कश्मीरी आचार्यों ने दी है जो नवीं से ग्यारहवीं शती ईस्वी के बीच हुए हैं। इनके नाम हैं, भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। इन सभी तत्त्वचिन्तकों ने भरत के रस-सूत्र को आधार बना कर ही अपनी सैद्धान्तिक बातें कही हैं। सूत्र का प्रत्येक पद तत्त्व की गहराई से ओत प्रोत है और यह गहराई समन्ततः एकमात्र मन की है। **'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः'** इस सूत्र में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि पद मनो-जगत् की सृष्टि

हैं। सूत्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद संयोग और निष्पत्ति हैं। मनोजगत् के विभाव आदि पदों की संयोग-क्रिया क्या है और संयोग-क्रिया के निष्पत्ति का साक्षात्कार क्या है, इसी का उत्तर रस का स्वरूप फलस्वरूप दर्शन है।

ऊपर उक्त आचार्यों के रस-सिद्धान्त-सम्बन्धी विवेचन के ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं है, केवल अभिनवगुप्तपाद को छोड़ कर। अभिनवगुप्तपाद ने ही नाटयशास्त्र की अभिनव-भारती टीका में तथा ध्वन्यालोक की लोचन टीका में उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए अपने पूर्ववर्ती इन आचार्यों के रस-सम्बन्धी मतों, सिद्धान्तों का सार संक्षेप में दिया है और उन पर अपनी टिप्पणियाँ दी हैं।

रस-सूत्र के पहले व्याख्याता भट्टलोल्लट हैं। ये रस-सूत्र में आये 'संयोग' पद का अर्थ स्थायीभावों की उपचिति या परिपुष्टता स्वीकार करते हैं और 'निष्पत्ति' का अर्थ उत्पत्ति मानते हैं। इनके अनुसार रस-सूत्र का अर्थ है— विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव (रति, आदि) स्थायीभाव को उपचित (उपचय) स्फुटित या परिपुष्ट करते हैं,। इन भावों के बीच संयोग की इस क्रियाकारिता से रस उत्पन्न होता है। परन्तु लोल्लट के अनुसार रस की यह विद्यमानता मुख्य रूप से अनुकार्य में होती है किन्तु अनुकार्य का अपने में अनुसन्धान करने से अनुकरण-कर्त्ता नट में भी होती है, इस प्रकार ये रस की स्थिति मुख्य रूप से अनुकार्य राम आदि में और गौण रूप से अनुकरणकर्त्ता नट में स्वीकार करते हैं।[1] लोल्लट के सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद का सिद्धान्त कहा जाता है अर्थात् संयोग-विशेष से रस उत्पन्न होता है। अभिनव गुप्तपाद ने लिखा है कि 'अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः।' इससे यह प्रकट होता है कि इन सिद्धान्तों को माननेवालों का अपना-अपना भिन्न सम्प्रदाय था उनकी परम्परा थी। इसीलिए वे कहते हैं कि भट्ट लोल्लट प्रभृति (आदि) ने तो इस प्रकार व्याख्यान किया है। अर्थात् भट्टलोल्लट अकेले नहीं हैं। अभिनवगुप्तपाद ने इस सिद्धान्त को प्राचीन समय से चला आता मान्यता प्राप्त सिद्धान्त कहा है। उसके प्रमाण में वे दण्डी द्वारा

---

१. नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती ६।३१

विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्।... तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।

निरूपित रसवत्, प्रेय आदि अलंकारों का लक्षण उद्धृत करते हैं जिसमें स्थायीभाव के उपचय का स्पष्ट निर्देश है।[1]

भट्टलोल्लट के बाद रस-सूत्र के दूसरे प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य श्रीशङ्कुक हैं। उन्होंने भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को संगत नहीं स्वीकार किया। इनका कहना है स्थायी भाव रस नहीं होता और न स्थायी भाव का उपचय होता है। क्योंकि करुण रस में शोक स्थायी भाव क्रमशः ह्रास को प्राप्त होता जाता है। उसकी प्रतीति मन्द होती जाती है। श्रीशङ्कुक ने अभिनयन को अवगमनशक्ति स्वीकार किया है। अवगमन शक्ति को वाचक शक्ति से भिन्न माना है—

अवगमशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या। शङ्कुक का कहना है कि भरत के रस-सूत्र में आये संयोग पद का अर्थ है अनुकरण और निष्पत्ति का अर्थ है प्रतीति। वे रस की उत्पत्ति न स्वीकार कर उसकी अनुकरणात्मक प्रतीति मानते हैं। रंगमञ्च पर अनुकरणकर्त्ता नट वर्ग में शिक्षा-अभ्यासपूर्वक अभिनीत किए जाने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव कारण, कार्य तथा सहकारी के रूप में अनुकरण कर्ता नट में ऐसे अनुमापक लिङ्ग हैं जो स्थायी भाव की प्रतीति दर्शक को करा देते हैं। यह स्थायी भाव मुख्य रूप से अनुकार्य राम सीता आदि में होता है पर अभिनयकर्ता नट में उसकी प्रतीति उक्त अनुकरणात्मक लिङ्गों से हो जाती है। जैसे ही उस स्थायी भाव की अनुकृति-रूप प्रस्तुति होती है उसकी प्रतीति रस रूप में उपस्थित हो जाती है। प्रेक्षक को चित्रतुरगन्याय से नट में अनुकार्य की प्रतीति होती है। यह प्रतीति न तो सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति, न संशय प्रतीति और न सादृश्य प्रतीति, किन्तु इनसे सर्वथा विलक्षण प्रकार की प्रतीति है। विलक्षण प्रतीतिरस्तीति—कह कर शंकुक ने यह प्रकट कर दिया है कि उनका तत्त्वचिन्तन सत्यपथ की ओर उन्मुख है। रंगमंच के राम की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय अथवा सादृश्य से भिन्न प्रकार की विलक्षण प्रतीति है, विलक्षणता का यह पक्ष क्या हो सकता है, शंकुक स्पष्ट नहीं कर सके, पर उनका चिन्तन सही दिशा की ओर उन्मुख था। अर्थात् राम की वह विलक्षण प्रतीति, राम की नहीं,

---

१. अभिनव भारती ६।३१
चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिना स्वालंकारलक्षणेऽभ्यधायि-
रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन।' इति काव्यादर्शे [२-२८१]
अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः। [काव्या० २-२८३]
इत्यादि च।

अभिनवगुप्तपाद ने इस रस की अभिव्यक्ति को लौकिकी, मिथ्या, अनिर्वचनीय, लौकिक के सदृश, या उसके आरोपादि रूप से विलक्षण प्रतीति स्वीकार किया है। साथ ही वे रस की अभिव्यक्ति परगत न मान कर केवल सामाजिक में ही उसके अलौकिक व्यापार की प्रक्रिया स्वीकार करते हैं। उनकी इस रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया इस प्रकार घटित होती है—

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकीकारणत्वादिभुवमति-क्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः; अतएवालौकिकविभावादिव्य-पदेशभाग्भिः, प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादि-नामधेयव्यपदेश्यै र्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिक-धियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः, अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मक-चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।

अर्थात् सामान्यतया लोक-व्यवहार में कार्य, कारण, सहकारी के रूप में प्रमदा उद्यान, कटाक्ष, चितवन आदि हेतुओं से अन्य व्यक्तियों की रति आदि स्थायी भावात्मक चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की जो पटुता होती है वह नाटकीय रंगमञ्च पर अभिनय को देख कर पुरातन वासनात्मक संस्कारों का उदय करते हुए लौकिक कारण-कार्य सम्बन्धों को लाँघ कर अलौकिक वातावरण की सृष्टि करती है जिसमें ये विभावादि देश काल से दूर उठ कर केवल विभावना, अनुभावना और समुपरञ्जकत्व व्यापार से युक्त मात्र रह जाते हैं (जिसके कारण राम, सीता आदि पात्र निर्विशेष हो जाते हैं उनके विभावनादि व्यापार ही हमारे सामने शेष रहते हैं।) इस प्रकार सामाजिक की बुद्धि में इन भावों के द्वारा देश-काल से रहित यह संयोग और सम्बन्ध की एकाग्रता रंगमञ्च पर अभिनीत वस्तु अर्थ को अलौकिक एवं निर्विघ्न संवेदन रूप से चर्वणा का विषय बना देती है। चर्वणा को प्राप्त यह अभिव्यक्त रत्यादि रूप अर्थ ही रस है। जो स्थायी भाव से विलक्षण है, भिन्न है। (यहाँ चर्वणा का अर्थ अभिव्यक्ति है) चर्व्यमाणता ही इसका जीवन है। **चर्वणा से अतिरिक्त काल में यह स्थित नहीं होता**। घट आदि के समान यह पहले से सिद्ध रूप नहीं है, तात्कालिक मात्र है।

अभिनवगुप्तपाद के इस वाक्य में **'न तु चर्वणातिरिक्त कालावलम्बी'** निर्वचन-पद जो पहले कहे हुए 'तात्कालिक' पद का पर्याय है नाट्य वस्तु या काव्यार्थ के विन्यास के प्रति प्रश्न चिह्न-खड़ा कर देता है। रस-सिद्धान्त की इस विश्लेषण-परम्परा

में रस की चर्वणातिरिक्त काल में स्थिति न होने की मान्यता स्थापित करना रस के अलौकिकत्व का अतिवाद कर देना है। इस अतिवाद में रस हमारी चित्तवृत्ति की सीमा से बाहर निकल जाता है और हमारे पुरातन संस्कारों से उसकी कोई कड़ी नहीं जुड़ पाती। रस-सिद्धान्त के विवेचन में हमने इस पूरे लेख का समायोजन विशेषरूप से '**न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी**' पद के व्याख्यान के लिए किया है।

अभिनवगुप्तपाद ने रस के संवेदन का अधिकारी उस व्यक्ति को कहा है जो निर्मल प्रतिभानशाली हृदय हो—**अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः।** विमल प्रतिभानशाली हृदय का अर्थ यदि यहाँ यह किया जाय कि जिसका हृदय बहुत स्वच्छ निर्मल हो या स्वच्छ कार्य-व्यापारों से युक्त जो हृदय हो—दोनों ही अर्थों में अधिकारी का यह निरूपण रस-संवेदन के विरुद्ध है। कम-से-कम नाटक के रस के संवेदन के विरुद्ध तो है ही, काव्य में न हो तो, न हो। अभिनवगुप्तपाद ने स्वयं भी लिखा है—**सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।** अर्थात् अनादि वासनाओं से अनुरञ्जित चित्त ही रंगमञ्च पर अभिनीत भावों का देश-काल से ऊपर उठ कर साधारणीकरण करता है। तब यह विमल प्रतिभानशालिता किसकी विशेषता होगी?

ऐसा आभासित होता है कि अभिनवगुप्त ने इस रस को नितान्त अलौकिक विश्लेषित करने की अपनी दृष्टि स्थापित की है। उस मध्यकाल में ईश्वर-चिन्तन तथा ईश्वर की प्राप्ति-साधना का एक सात्त्विक प्रवाह विविध रूपों में उद्‌भूत हो रहा था। साहित्य-दर्शन को भी रस-रूप में समाधिगत आनन्द या ईश्वरीय साक्षात्कारात्मिका अनुभूति अभिनवगुप्त ने प्रदान की है। वे रस को अलौकिक संवित् चमत्कार और विश्रान्ति की संज्ञा देते हैं। सभी रसों को सुख-प्रधान तथा एकघन प्रकाश का आनन्दसार कहते हैं।[1] इसी दृष्टि से उन्होंने विमल प्रतिभानशाली हृदय को ही रसाभिव्यक्ति का पात्र अधिकारी माना है। प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त ने अपनी अनुभूति की तुलना में रसास्वाद के अनुभावकों (आस्वादयिताओं) की कल्पना की है। किन्तु नाट्यरस की ऐसी अलौकिक कल्पना सम्भवतः भरतमुनि को मान्य नहीं थी, यदि नाटक

---

१. अभिनव भारती ६।३१

तत्र सर्वेऽमी सुख प्रधानाः। स्वसंविच्चर्वण रूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्।

तथा नाट्यरस इतना अलौकिक होता तो मालविकाग्निमित्र का प्रणेता कालिदास नाट्य को भिन्न रुचिवाले सभी के लिए एक समान आराध्य क्यों कहता।[1] जो अशिक्षित नाट्याभिनय का दर्शक बनेगा उसके विमल प्रतिभानशाली हृदय होने की कल्पना कैसे की जा सकती है? इसी प्रसंग में विश्रान्ति संज्ञा का वास्तविक अर्थ भी देखना चाहिए, जिसे रस का पर्याय कहा गया है।

'विश्रान्ति' संज्ञा कश्मीरी शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन का पारिभाषिक शब्द है जिसे ज्यों का त्यों अभिनवगुप्त ने रस की व्याख्या में प्रयुक्त किया है, अभिनवगुप्त ही नहीं, भट्टनायक ने तो इसका प्रयोग और भी अधिक अभिनिवेश के साथ किया है। उन्होंने लिखा है—**सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविदविश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद—सविधेन भोगेन परं भुज्यते**। अभिनवगुप्त तो इसे रस का पर्याय कह कर ही शान्त होते हैं। 'विश्रान्ति' का प्रयोग प्रत्यभिज्ञादर्शन में वस्तुतः उस स्थिति के लिए किया गया है जो स्थिति योगी की चिदानन्दघन में लय होने के पूर्व की होती है। यहाँ विश्रान्ति अपने अर्थ में अहं-विमर्श का पर्याय है। इसका उल्लेख उत्पलदेव (१०वीं शती ईस्वी) की कारिका में मिलता है। इनकी कारिकाएँ क्षेमराज (११वीं शती ईस्वी) ने अपने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' तथा 'शिवसूत्र-विमर्शिनी' ग्रन्थों में उद्धृत की है, प्रस्तुत कारिका यह है—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।
उक्ता सैव च विश्रान्तिः सर्वापेक्षा निरोधतः॥
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं [मुख्यमीश्वरतापि च

अहं की वह विराट्भावना जो समस्त सृष्टि के कण-कण में शिवशक्ति का ही दर्शन कर रही हो, उसक लघु अहं उस विराट् अहं में लुप्त हो गया हो और उसके परितः स्वातन्त्र्य तथा ईश्वरत्व की अनुभूति हो रही हो—यही है प्रत्यभिज्ञादर्शन का अहंविमर्श या विश्रान्ति। विश्रान्ति अर्थात् निज के विराट् का साक्षात्कार।

---

१. मालविकाग्निमित्र १।४
देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥

अब बताइए, योगी की इस निष्कल्मष विराट् अनुभूतिमय स्थिति की तुलना क्या मन के संस्कारों से वासित साहित्य-रचना की रस-चर्वणा से की जा सकती है? इसी तुलना की धुन में अभिनवगुप्तपाद ने रसाभिव्यक्ति के तात्त्विक चिन्तन में अपने को तल्लीन किया है। पर सच पूछा जाए तो यह साहित्य-रचना या नाट्याभिनय के रस का चिन्तन न होकर योगी के आत्म-रस का चिन्तन हो गया है, जो स्वाभाविक था, क्योंकि माहेश्वर अभिनवगुप्तपाद स्वयं उच्च कोटि के साधक तथा योगी थे। वे वस्तुतः नाट्य रस के स्थान पर आत्मरस के चिन्तन में तल्लीन हो गये, इसके कई संकेत अभिनवभारती में प्राप्त होते हैं। यहाँ हम एक अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण देकर अभिनव गुप्त की इस दृष्टि की झलक देना चाहते हैं। भरतमुनि ने नाट्याभिनय की वृत्तियों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा।
समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया द्विजाः।

(नाट्यशास्त्र १।४१)

अर्थात् हे ब्राह्मणो! मेरे द्वारा भारती, सात्त्वती तथा आरभटी नाट्यवृत्तियों (अभिनय-पद्धतियों) के आश्रित अभिनय का प्रयोग किया गया है। यहाँ नाट्यवृत्तियों का तात्पर्य उन अभिनय-पद्धतियों से है जो भरत के सामने प्रचलित थीं। अभिनय की कला कुल-विशेष या समाज-विशेष में परम्परा से पोषित होती थी। ऐसी तीन परम्पराएँ भरतमुनि के सामने थीं, एक तो वह नाट्य परम्परा थी जिसका स्वयं भरत के कुल के शिष्य और प्रशिष्य जन प्रयोग किया करते थे।[१] उसको उन्होंने भारती वृत्ति कहा। दूसरी परम्परा सात्त्वतों अर्थात् वैष्णवों (वैष्णव सम्प्रदाय) की थी, जिसको भरत ने सात्त्वती वृत्ति कहा है। नाच, रंग और नाट्य-प्रियता वैष्णवों की प्रसिद्ध है। उनके अभिनय की एक निजी परम्परा थी, वही सात्त्वती अभिनय वृत्ति है। तीसरी अभिनय-पद्धति उन अशिक्षित और असंस्कृत वनवासियों और आभीरों आदि की थी जो अभिनय का उच्छृंखल प्रयोग किया करते थे। उनकी अभिनय-पद्धति को भरत ने आरभटी वृत्ति कहा है। ये तीनों वृत्तियाँ एक तरह से नाट्याभिनय के ऐतिहासिक परम्परा का परिचय देती हैं और इस दृष्टि से भरत ने उनका उल्लेख भी किया है।

---

१. भरतेन प्रणीतत्वाद् भारतीवृत्तिरिष्यते। (अग्निपुराण)

किन्तु अभिनवगुप्तपाद ने इन वृत्ति-नामों की तात्त्विक व्याख्या अभिनवभारती में की। उन्होंने कहा भारती वाग्वृत्ति है और सात्त्वती मनोव्यापार रूपा सात्त्विकी वृत्ति है और आरभटी उत्साही भटों की शरीर-वृत्ति है। अर्थात् एक वाणी व्यापार है, एक मनो व्यापार है और एक शरीर-व्यापार है—

भारती वाग्वृत्तिः मनोव्यापार रूपा सात्त्विकी सात्त्वती सदिति प्रख्यारूपं संवेदनम् तद् यत्रास्ति तत् सत्त्वं मनः तस्येयमिति इयृति इति अराः भटाः सोत्साहा अनलसाः तेषामियं आरभटी कायवृत्तिः।

(नाट्यशास्त्र १/४१ अभिनवभारती)

इसी प्रकार के तात्त्विक चिन्तन के अभिनिवेश में अभिनवगुप्त ने विश्रान्ति को रस की पर्याय-सूची में रख दिया है। विश्रान्ति क्या है, पीछे लिखा जा चुका है। विश्रान्ति की अवस्था साधक योगी का अहं-विमर्श है। लेकिन साहित्य-रचना की रसानुभूति में आत्मसाक्षात्कार के साधना स्वरूप अहं-विमर्श को स्थापित करना आत्मा को मनः स्थानीय बना देना है। ऐसा उचित नहीं कहा जा सकता। हम इस सन्दर्भ में डा० जयशङ्कर त्रिपाठी की इस बात से सहमत हैं कि साहित्य-रचना में अहं विमर्श नहीं वरञ्च मनोविमर्श की स्थिति होती है 'दार्शनिक पक्ष में अहंविमर्श के समानान्तर साहित्य के दर्शन में मनोविमर्श है और इसका रूप भी इतना ही विराट् है। इस मनोविमर्श का साक्षात्कार ही रहस्य-दर्शन है, लेकिन मनोविमर्श की कोई भी इयत्ता और ईदृक्ता नहीं है, मन के अवचेतन स्तर कितने हैं, मानव सृष्टि के आदि से अब तक सभी रहस्यमय हैं, वे नित्य नवीन हैं, इसीलिए वे किसी भी सर्जन की पहली शर्त हैं।. . .योग-दर्शन का यह अहं-विमर्श (आत्मा) ही साहित्य की सर्जना में मनोविमर्श (मन) का रूप धारण कर उदय होता है। मनोविमर्श सर्जन के अधिक निकट हो जाता है'।[१]

अभिनवगुप्तपाद का यह उल्लेख कि रस चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी नहीं होता, केवल तात्त्विक चिंतन के अभिनिवेश में लिखा गया है। उन्होंने रस के जैसे लक्षण और स्वरूप की कल्पना की है, अभिनय या कथावस्तु में उसकी स्थिति सर्वत्र नहीं हो सकती। पर जहाँ विभाव अनुभाव, व्यभिचारीभाव रस-सूत्र में निर्दिष्ट संयोग और निष्पत्ति की क्रिया को निष्पादित करते हैं, वहीं रस की अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल के तीसरे अङ्क को लीजिए

---

१. कवि का रचना-व्यापार और साहित्य-शास्त्र, पृष्ठ १७९, १८२।

जिसमें दुष्यन्त ग्रीष्म की धूप में शकुन्तला को खोजने चलता है कि वह कहाँ होगी ? शकुन्तला भी मालिनी नदी के तट पर कुञ्ज में दुष्यन्त के वियोग में पीडित है। उसे कामज्वर का ताप है। सखियों की सलाह से वह दुष्यन्त को प्रेम-पत्र लिखती है। वह जब प्रेम-पत्र लिखकर अपनी सखियों को सुना रही थी कि हमने ठीक लिखा है या नहीं लिखा है, दुष्यन्त इस पत्र को सुनने के साथ ही स्वयं वहाँ पर उपस्थित हो जाता है। सखियाँ हट जाती हैं वह प्रेमावेश में शकुन्तला की चाटुकारी करने लगता है, शकुन्तला से पंखा झलने और चरण दबाने की बात करता है और जब वह उसके मुख को उठाकर चुम्बन करना चाहता है, वही काल भट्टलोल्लट के उपचित स्थायिभाव का और अभिनवगुप्त के रसाभिव्यक्ति की चर्वणा का काल है—

राजा—अपरिक्षतकोमलस्य तावत् कुसुमस्येव नवस्य षटपदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य॥
(मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन)
(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ३।२३)

प्रश्न उठता है कि यह तो अभिनवगुप्तपाद की स्वसम्मत रस की चर्वणा हुई लेकिन इसके पूर्व जब कुञ्ज में बैठी हुई शकुन्तला को दुष्यन्त ने ओट से देखकर कहा— **अये लब्धं नेत्र निर्वाणम्,** और जब शकुन्तला ने सखियों से अपने ज्वर का निदान करते हुए बताया कि मैं तपोवन के रक्षक उस राजर्षि के प्रथम दर्शन के अनन्तर परवश हो गयी हूँ, तब इसे सुनकर दुष्यन्त प्रीतिमुग्ध होकर कहता है—**अये श्रुतम् श्रोतव्यम्।** हम इस बात को स्वीकार करेंगे कि अभिनवगुप्त की रसचर्वणा का जो स्वरूप है वह इन लक्षणों में घटित नहीं होता, पर रस अपने किसी न किसी स्वरूप में यहाँ भी है। आनन्दवर्धन ने रस विहीन साहित्य-रचना को स्वीकार ही नहीं किया है, क्योंकि रचना किसी न किसी वस्तु को लेकर ही होती है और वस्तु का सम्बन्ध किसी न किसी भाव से अवश्य होगा और भाव-जगत् रस की अभिव्यक्ति का कारण है।[1] अभिनवगुप्तपाद ने भी अभिनवभारती में अन्यत्र यह लिखा है कि यह विश्व ही रसमय है, काव्य वृक्ष हैं, अभिनय आदि नट

---

१. ध्वन्यालोक ३।४२ की वृत्ति
'यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न संभवत्येव। यस्माद-वस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्य-चिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यतेऽन्ततो विभावत्वेन।'

व्यापार पुष्पादि हैं, सामाजिक का रसास्वाद फल है, इसलिए यह विश्व रस-मय ही है।[1]

अतः चर्वणातिरिक्त काल में भी रस की स्थिति है, और निश्चित रूप से रस चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी भी है। हम नहीं कह सकते कि यह रस अभिनवगुप्तपाद का अपना अभिमत रस है या नहीं, पर कवि के रचना-व्यापार में इसकी नियत सत्ता है। कुछ कवियों ने इसका उल्लेख कथा-रस की संज्ञा से किया। धनपाल ने 'तिलकमञ्जरी' में लिखा है—

केचिद् वचसि वाच्येऽन्ये केऽप्यशून्ये कथारसे।
केचिद् गुणे प्रसादादौ धन्याः सर्वत्र केचन॥

अर्थात् कवि की रचना की कसौटी शब्द, अर्थ, अजस्र कथा-रस और गुण में है। सामान्यतः रचनाकार इनमें किसी विधाविशेष में अपना कौशल दिखाता है पर महान् रचनाकार इन सभी विधाओं पर पूर्ण अधिकार रखता है। हम ऐसा समझते हैं कि बिना कथा-रस के किसी भी प्रबन्ध का कथा-विन्यास सम्भव नहीं हो सकता।

कथा-रस ही है जो अभिनय में नाटक के दर्शक को और अन्य प्रबन्धों में उसके पाठक को आरम्भ से ही विभोर कर देता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के तृतीय अंक में 'अये लब्धं नेत्र-निर्वाणम्' तथा 'श्रुतं श्रोतव्यम्' के सन्दर्भ कथा-रस की उच्छल तरंग हैं। जिनमें हमारा मन अभिषिक्त हो जाता है। अभिनवगुप्त के **'न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी'** रस लक्षण को इस प्रकार से संशोधित करने की अपेक्षा अनुभव की जा सकती है कि यह कहा जाए कि चर्वणातिरिक्तकाल में अभिनय में तथा कथाप्रबन्ध में भी रस विद्योतित होता रहता है, उसे चाहें तो कथा-रस कह सकते हैं।

'साहित्यिक मूल्य के रूप में एक विशिष्ट, आधुनिक आलोचक ने रस को कृति का सम्पूर्ण प्रभाव कहा है। उसे कृति का असंलक्ष्यक्रम अखण्ड व्यंग्य अर्थ कहा जा सकता है, जिसमें उसके सभी अंशों की सांकेतिकता उपचित होकर एक

---

१. ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनट-व्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिक-रसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

सम्पिण्डित भाव सम्प्रेषित करती है।'[1] डॉ० जी० सी० पाण्डेय का यह मत भी कथारस की सत्ता का ही समर्थन करता है अथवा इस समर्थन को यह स्वीकार कर लें कि चर्वणातिरिक्तकाल में भी रस की स्थिति है, और इसी सन्दर्भ में 'महाभारत' के अंगीरस शान्त की तथा 'रामायण' के अंगीरस करुण की बात सुसंगत होती है। आनन्दवर्धन की प्रबन्ध ध्वनि अथवा कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता के निरूपण भी कथा-रस की सत्ता का बोध कराते हैं। हम चाहें तो उसे कथा-रस न कहकर रस की निष्पत्तियों का विविध स्वरूप कह सकते हैं।

सच बात तो यह है कि रस-सिद्धान्त के सभी व्याख्याकार अपने-अपने विश्लेषण में सही हैं। सभी की अपनी-अपनी अनुभूतियाँ सत्य हैं। यदि हम अभिनवगुप्त के तात्त्विक चिंतन की सीमा में अपने को न बाँधे और उन्मुक्त हो जायँ तो उन्मुक्त रस की अनुभूति और अभिव्यक्ति के अनेक रूप कसौटी पर सत्य प्रमाणित होंगे। यह कैसे कहा जा सकता है कि पर्वत से निकला हुआ निर्झर एक प्रवाह में, एक ही तान से,एक रस रूप में, एक ही तरह कल-कल करता हुआ प्रवाहित होगा। यदि ऐसा हो जाता है तो वह कृत्रिम है। कहीं वह चट्टानों पर गिरता हुआ प्रतीत होगा, कहीं वह चट्टानों में छिपकर निकलेगा, कहीं उन्मुक्त प्रवाहित होगा और कहीं अपनी अभिव्यक्ति मात्र देगा। इसी प्रकार प्रबन्ध में उपचित स्थायीभाव की रस रूप में स्थिति भी स्फुरित होती है। इसलिए सत्य यह है कि यह रस का स्वरूप कहीं तो भट्ट लोल्लट के अनुसार उत्पन्न होता प्रतीत होता है और कहीं शंकुक के अनुसार अनुक्रियमाण है, कहीं भट्टनायक के अनुसार भोज्यमान है और अभिनवगुप्त का अभिव्यक्ति रूप तो उसका सामान्य दर्शन है ही। केवल लोल्लट और शंकुक के सिद्धान्त में इतने संशोधन की अपेक्षा है कि रस को उत्पन्न माना जाय, प्रतीयमान माना जाय किन्तु परगत न माना जाय, भट्टनायक के साधारणीकरण के अनुसार उसे सामाजिक का पक्ष स्वीकार किया जाय। यह बात सभी प्रमाणों से सिद्ध है कि रस मन या अन्तर्मन का क्रिया-कलाप है। स्थायीभाव या अन्य दूसरे भाव, अनुभाव मन के ही व्यापार है। अतएव मन की गति जहाँ तक जा सकती है यह त्रिगुणात्मिका सृष्टि जिसमें दुःख, सुख, मोह सब कुछ व्याप्त है सभी का संयोग रस की अभिव्यक्ति का कारण बनता है। इस विचार से सांख्यमतानुयायियों के अनुसार रस की लौकिकता भी असत्य नहीं है। उसे इस अर्थ में ही अलौकिक कह सकते हैं कि हमारा मन हमें आकस्मिक और अचिन्तित भुलावा देकर कहाँ से कहाँ

---

१. भारतीय परम्परा के मूल स्वर, पृष्ठ १०६।

किस भाव में तल्लीन कर देता है, देश काल से दूर उठा देता है, जन्मान्तर के भावों में उत्कण्ठित कर देता है, जिसके कारण मन के सम्भावित सभी व्यापार चाहे राम के हों, चाहे दुष्यन्त के हों, चाहे रावण के हों हमारे हो, जाते हैं। हम विभोर होकर उसमें अपना साक्षात्कार करते हैं। रस की अलौकिकता के अधिक व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है, अपेक्षा इस बात की है कि रस का व्यक्त स्वरूप कितना विविध और कितना अद्भुत है—उसके ऐसे संयोगों और पक्षों का विश्लेषण किया जाना चाहिए।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के तृतीय अंक में रस के सभी व्याख्याकारों का अभिमत रस-स्वरूप कथा-प्रबन्ध में या कि कथा-रस में स्फुरित देखा जा सकता है। पीछे अभिनवगुप्तपाद की सरणि में अभीष्ट अभिव्यक्ति सिद्धान्त का रसोदाहरण दिया जा चुका है। अब भट्टलोल्लट के उत्पत्ति-सिद्धान्त का रसोदाहरण लीजिए—

शकु०—सखि, यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः तत आरम्य तद्गतेनाभिलाषेण तदवस्थाऽस्मि संवृत्ता।

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम्

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यपे जीवलोकस्य।।

(शकुन्तला—सखि, जब से तपोवन का रक्षक वह राजर्षि मेरी आँखों के सामने आया है तब से उसके प्रति अर्पित अभिलाषा से मैं इस अवस्था को पहुँच गयी हूँ।

राजा—(प्रसन्नता के साथ) सुन लिया जो सुनना चाहिए था। काम ही इस शकुन्तला के ताप का कारण है और वही मुझको आह्लादित कर रहा है। ग्रीष्म के अन्त में बादलों से आवृत श्यामल दिन जीवलोक को जीवन दान देने वाला होता है)

शंकुक का प्रतीयमानरस आगे के उदाहरण में हमारी अनुभूति का विषय बनता है—

प्रियंवदा—ननु राजर्षिरेतस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान् दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते।

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि तथाहि—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतम्
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्ग-प्रसारिभिरश्रुभिः।

अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥

(प्रियंवदा—निश्चित रूप से राजर्षि ने इस शकुन्तला के प्रति स्निग्धदृष्टि से देखकर अपना अनुराग सूचित किया है और इन दिवसों में रात्रिभर अनुराग-वश जागते रहने से वह दुर्बल भी दिखाई पड़ता है।

राजा—सत्य है, मैं इसी प्रकार का हो गया हूँ। मेरा यह सोने का कंकण, जिसका रत्न, हाथ को शिर के नीचे रखने के कारण रात्रियों में नेत्र के कोण से गिरने वाले गरम आँसुओं से भींग-भींग कर धूमिल हो गया है, हाथ में पड़े धनुष के व्रणाङ्क को बिना स्पर्श किये बार-बार मणिबन्ध से नीचे गिरता रहता है और मेरे द्वारा ऊपर उठाया जाता रहता है)

भट्टनायक के भाव्यमान स्थायी तथा भुज्यमान रस की निष्पत्ति भी इसी अंक में देखिए। गौतमी तापसी के आने पर शकुन्तला मालिनी नदी के निकुंज से सखियों के साथ चली जाती है, तब अकेला दुष्यन्त उस सूने कुंज को देखकर उत्कण्ठा में डूब जाता है—

दुष्यन्त—क्व न खलु सम्प्रति गच्छामि, अथवा इहैव प्रिया परिभुक्तमुक्ते
लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि (सर्वतोऽवलोक्य)
तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि॥

(दुष्यन्त—(प्रिया से वियुक्त होकर) इस समय मैं कहाँ जाऊँगा। अथवा प्रिया द्वारा सेवित और अब त्यक्त इस लताकुंज में ही एक मुहूर्त बैठता हूँ। (चारों ओर देखकर) शिला पर उस प्रिया की यह फूलों की शय्या है जो उसके कामतप्त शरीर से मसल उठी है, कमलिनी के पत्र पर नखों से उकेरा गया यह प्रेम-पत्र है जो अब मुरझा चला है, हाथ की कलाई से गिरा कमल-नाल दंड का यह कंकण है—प्रिया द्वारा मुक्त इन वस्तुओं के अनुराग में मेरी आँखें ऐसी आसक्त हो गयी हैं कि वेतस के इस सूने कुंज को सहसा छोड़कर चल देने के लिए मैं समर्थ नहीं हो पा रहा हूँ)

रस की चर्वणा का मूल आधार मन की वासनाएँ और संस्कार हैं। ये प्रत्येक मन के अपने हैं, अभिनय के दर्शन में या काव्य-कथा के पढ़ने में इनका एकाकीपन दूर होता है। प्रत्येक सहृदय का मन इस दर्शन और पठन के संयोग में एक

विशाल समुद्र की लघु तरंग के रूप में उच्छलित हो उठता है। अथवा इस प्रक्रिया में सहृदय के मन को उस लघु दीपक के रूप में कल्पित करें, जो अन्धकार में या एकाकी रहकर स्वयं प्रकाशित हो रहा है किन्तु जब उसे सूर्य के प्रकाश में उपस्थित होना पड़े तब केवल उसका स्वरूप दिखायी पड़ता है, उसकी किरणें सूर्य की किरणों में मिल जाती हैं, सब कुछ एक हो जाता है, हम देख नहीं पाते, पर सत्य बात यह होती है कि दीपक सूर्य के प्रकाश में एक होकर आह्लादित हो उठता है, ऐसे ही मन का साधारणीकरण और उसकी रसाभिव्यक्ति है। मन का अपनापन जहाँ समाप्त हो जाये, होने लगे, वहाँ से रसानुभूति की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है, इस दृष्टि से लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्तपाद सभी अपनी व्याख्या में सत्य हैं, सिद्धान्त-निरूपण की कुछ थोड़ी-सी त्रुटियाँ लोल्लट और शंकुक में हैं, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। कथा-प्रबन्ध में रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया सहसा नहीं हो सकती। मुक्तकों में भी रसानुभूति करते समय कथा की कल्पना ऊपर से लानी पड़ती है। अतः चर्वणातिरिक्त काल में रस की स्थिति समग्र रूप से नहीं, किन्तु अंश रूप से कथा-रस में विद्यमान ही होगी। इतनी बात अवश्य है कि विगलित-वेद्यान्तर में रसानुभूति की उच्च अवस्था होगी, देशकाल-वेद्यान्तर यदि प्रकट होता रहा तो रसानुभूति की उच्च अवस्था भले न आये, पर रसानुभूति की कोई न कोई अवस्था तो होगी ही, नाट्याभिनय के दर्शक-सामाजिक समाधिस्थ योगी नहीं हो सकते, कि अन्तर्ब्रह्म के दर्शन में सारी सृष्टि को भूल जायें, समस्त देश-काल को भूल जायेंगे, तो रसानुभूति कैसे होगी ? कोई न कोई देशकाल तो अनुभूति में आयेगा ही, एक-देशकाल आया तो दूसरे देशकाल की अनुभूति का संयुक्त हो जाना मन का सहज गुण है, वह अत्यन्त चंचल तथा अस्थिर है। न्याय-दर्शन में उसके इन गुणों की चर्चा हुई है। यहीं पर शंकुक का सिद्धान्त सत्य है। सत्यता का आघात बचाने के लिए, उससे अपने पक्ष की रक्षा करने के लिए अभिनवगुप्तपाद ने कहा——रस की स्थिति चर्वणातिरिक्त काल में नहीं हो सकती। यदि वे अतिरिक्त काल में स्थिति को मान लें, तो उनके सिद्धान्त और उनकी रसानुभूति दोनों की अलौकिकता नष्ट हो जाएगी।

●

७. अलङ्कार का सौन्दर्य

काव्य-रचना में संस्कृत-काव्यशास्त्रियों ने चमत्कार के प्रति विशेष आदर दिखाया है, इसी चमत्कार की अवतारणा के मूल में अलंकारों की कल्पना की गयी। कदाचित् यह बात मानी जा सकती है कि काव्यशास्त्र का पुराना नाम अलंकार-शास्त्र ही रहा होगा। जो भी हो लेकिन इतना प्रमाण तो प्राप्त ही है कि अलंकार में उपमा अलंकार का कवि एवं भावक दोनों के लिए बड़ा महत्त्व होता था। कवि अपनी काव्य-रचना को उपमा द्वारा चमत्कृत करता था और भावक काव्य-रचना के आकलन में उपमा की प्रस्तुति पर ध्यान देता था। लेकिन तब वह उपमा अलंकार मम्मट, उद्भट द्वारा व्याख्यात किया गया एक सीमित उपमा अलंकार नहीं था, उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत था। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में 'औपम्यम् औपकायनस्य' का जो उल्लेख किया है उसके पीछे यही अनुश्रुति रही होगी, अर्थात् औपम्य-शास्त्र काव्य-शास्त्र का जीवन था। उपमा के अपने स्वरूप की स्थापना होने में कुछ समय अवश्य लगा होगा, क्योंकि सूक्ति या काव्यरचना के आरम्भ में उपमा की प्रतिष्ठा नहीं थी। आचार्य कुन्तक के मतानुसार दीपक सभी अलंकारों का मूल है। इसीलिए उन्होंने प्रथम व्याख्यान दीपक अलंकार का किया।[१] आधुनिक विद्वान् भी इस मान्यता की खोज में उसके निकटतम सत्य को उजागर करने में प्रयत्नशील रहे हैं और उन्होंने उसका विस्तृत विश्लेषण किया है।'[२] दीपक के अनन्तर अलग-अलग परम्परा में उपमा और रूपक का विस्तृत रूप सामने आया।

---

१ वक्रोक्तिजीवित ३।१७

तदिदानीं दीपकमलंकारान्तरकारणं
कलयन् काममपि काव्यकमनीयतां
कल्पयितुं प्रकारान्तरेण प्रक्रमते—
औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद् वस्तु दीपकम्॥

२ देखिए, आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास-दर्शन। पृष्ठ ३३२-४९ (अलंकार-उद्भावना में दीपक की प्राथमिकता)

काव्य-रचना की दृष्टि से अलंकार रचनाधर्म के वास्तविक प्रस्तोता हैं। अलंकार का अर्थ दण्डी[1] और वामन[2] ने शोभा अथवा सौन्दर्य का कारक धर्म स्वीकार किया। अर्थात् काव्य के सौन्दर्य का साक्षात्कार कवि अपनी रचना में अलंकार के माध्यम से करता है। सौन्दर्य के सामान्यतः दो प्रमुख विभाग किए जा सकते हैं—

१. वस्तु का सौन्दर्य
२. भाव का सौन्दर्य

वस्तु सौन्दर्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत (कल्पना) दोनों तरह की योजनाएँ होती हैं। भाव-सौन्दर्य मन के व्यापारों की अभिव्यक्ति है। जो प्रायः बहुत गूढ़, सुकुमार और इदमित्थं रूप में पकड़ में न आनेवाली हैं। अलङकारों का वास्तविक पक्ष वस्तु-सौन्दर्य का साक्षात्कार है। यह वस्तु-सौन्दर्य किसी न किसी प्रकार भाव या भाव-सौन्दर्य से सम्बद्ध हो जाता है। दण्डी और भामह ने जिन अलंकारों का निरूपण किया है वे प्रायः मूलरूप से वस्तु-सौन्दर्य को हो अभिव्यक्त करनेवाले अलंकार है। उद्भट तथा वामन के अलंकार भी वस्तु-सौन्दर्य का पक्ष उजागर करते हैं। वस्तु-सौन्दर्य को चित्रित करने में वही कवि-प्रतिभा समर्थ हो सकती है जिसने देश के रूप और उसमें प्रवहमान काल की गति को आत्मसात् कर लिया हो। वस्तु-सौन्दर्य को चित्रित करने की वास्तविक सरणि स्वभावोक्ति या जाति अलंकार की उद्भावना थी। दण्डी ने जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य—इन चार वर्गों में उसके लक्षण तथा उदाहरण देकर उसके प्रकरण को सीमित कर दिया।[3] वस्तुतः स्वभावोक्ति काव्य-रचना का अत्यन्त विस्तृत पक्ष है, कुन्तक की सहज-वस्तु-वक्रता का निरूपण, जिसमें रसों का भी समावेश हुआ है, प्रकारान्तर से स्वभावोक्ति अलंकार का ही विस्तार और निरूपण है। दण्डी के बाद स्वभावोक्ति को अत्यन्त विस्मृत कर दिया गया, भामह स्वयं उसे अलंकार स्वीकार

---

१ काव्यादर्श २।१
काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

२. काव्यालङकार-सूत्र १।१।१-२
काव्यं ग्राह्यमलङकारात्। सौन्दर्यमलङकारः।

३. काव्यादर्श २।१३
जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्॥

करने के पक्ष में नहीं हैं।[1] वामन उसका नाम भी नहीं लेते। उद्भट ने उसे भामह की सरणि पर क्रिया-परक स्वभाव-परक एक सीमित अलंकार माना है।[2] ऐसा अलंकार नहीं, जिसका वर्ग और परम्परा हो। अलंकारों के प्रयोग में वस्तु-सौन्दर्य की यह उपेक्षा, कवियों की रचना में भावों के प्रति अधिक सम्मान का परिणाम था। भाव का स्वरूप कुछ ऐसा था, जिसमें सरलता से उक्ति का चमत्कार कवि की रचना को चमत्कृत कर देता था। मध्यकाल के उत्तरवर्ती कवि-गण वस्तु-सौन्दर्य से दूर होते गये और भावों के माध्यम से दूर की उड़ान भरना उनकी उक्तियों का जीवित था, जिसका जीवन अत्यन्त सुकुमार होता है।

दण्डी के अलंकारों की सूची इस प्रकार है—

१. वे अलंकार जो वस्तु-सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं—

स्वभावोक्ति (स्वभावाख्यान)।

उपमा, रूपक, दीपक, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, श्लेष, तुल्ययोगिता, अपह्नुति, विरोध, निदर्शना, सहोक्ति ,अनन्वय, ससन्देह, उपमारूपक, भाविक।

२. वे अलंकार जो भाव-सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं—आक्षेप, अर्थान्तिरन्यास, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, विशेषोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, परिवृत्ति, आशीः।

भाव-सौन्दर्य की सृष्टि करनेवाले अलंकारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और यह वृद्धि-समृद्धि औदीच्य आचार्यों ने की है। दण्डी वैदर्भ मार्ग के कवि एवं आचार्य थे, यद्यपि उनकी अलंकार-सूची में उक्त दोनों प्रकारों के अलंकारों की संख्या प्रायः समान है, तथापि उन्होंने उन अलंकारों में व्याख्यान का विस्तार किया है जो अलंकार वस्तु-सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। जैसे उन्होंने स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक तथा दीपक के ही व्याख्यान का विस्तार ११२ कारिकाओं में किया है, द्वितीय परिच्छेद में कुल

---

१. काव्यालंकार (भामह) २।९३

स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते।

२. काव्यालंकार-सार-संग्रह, ४१

क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥

वृत्ति—(तस्याश्चालङ्कारत्वमसाधारणपदार्थस्वरूपध्वननात्।)

३६८ कारिकाएँ हैं जिनमें दो-तिहाई से अधिक कारिकाएँ उन अलंकारों का विवेचन करती हैं जो वस्तु-सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। दण्डी ने भाव-सौन्दर्य की सृष्टि करनेवाले अलंकारों में भी कुछ उदाहरण ऐसे प्रस्तुत कर दिये हैं, जो वस्तु-सौन्दर्य की ही सृष्टि कर देते हैं, उनके ऐसे प्रयोग कई अलंकारों के हैं।[1] अलंकारों के प्रयोग द्वारा वस्तु-सौन्दर्य की ऐसी सृष्टि सम्भव होती है जो कवि की रचना को सार्थकता प्रदान कर देती है। दण्डी ने उपमा, रूपक या दीपक अलंकारों के भेदों के प्रयोगात्मक उदाहरण शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से दिये हैं, उनकी दृष्टि वहाँ रचनाकार कवि की नहीं है तो भी इन उदाहरणों में कहीं-कहीं वस्तु का उत्कृष्ट लालित्य चमत्कारकारी होता है, जैसे गुण-दीपक का उदाहरण है—

श्यामला प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूत - पङ्क्तिभिः।
भुवश्च सुकमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः॥

(अर्थात् वर्षाकाल में उदित होती बादल की घटाओं से दिशाएँ श्यामल-सुहावनी हो गयीं और धरती सुकुमार, हरे, नये तृणाङ्कुरों की कतारों से)।

दण्डी ने स्वाभावोक्ति और दीपक का निरूपण जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य शब्दों के भेद से किया है। अलंकारों को इन भेदों में विभक्त करने की दृष्टि के पीछे वस्तु-सौन्दर्य की रचना है। दण्डी ने गुण-स्वभावोक्ति के उदाहरण में किस प्रकार भाव को वस्तु-सौन्दर्य के साक्षात्कार में परिणत कर दिया है, काव्य-रचना के इस सुकुमार लालित्य को देखिए—

बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन्मनसि निर्वृतिम्।
नेत्रे चामीलयन्नेष प्रिया-स्पर्शः प्रवर्तते॥
(काव्यादर्श २।११)

(अर्थात् प्रिया के स्पर्श ने जो रोमहर्ष किया उससे अंग रोमांचित हो गये, मन आनन्द में विभोर हो चला और आँखें आनन्द में मुकुलित होने लगीं।)

---

१. जैसे, संशयाक्षेप का उदाहरण (काव्यादर्श २।१६३) है—
किमयं शरदम्भोदः किं वा हंसकदम्बकम्।
रुतं नूपुरसंवादि श्रूयते तन्न तोयदः॥
(अर्थात् शरत्काल में हंसों की कतार धवल बादलों के समान कलरव करती उड़ रही है)।

द्रव्य-स्वभावोक्ति का उदाहरण शिव के रूप की सूक्ष्म, किन्तु प्रत्यक्ष ललित अवतारणा है—

कण्ठेकालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः।
जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीद् वृषध्वजः॥

(शिव प्रकट हुए थे, जिनके कण्ठ में हालाहल का नीला चिह्न था, हाथ में भिक्षा का कपाल, शिर पर चन्द्रमा और मुख के चारों ओर कोमल पिशंगी जटाएँ फैली थीं।

दण्डी के पश्चात् या यों कहा जाए कि जब औदीच्य आचार्य काव्य-लक्षणों में प्रवृत्त हुए तब काव्य-रचना में वस्तु-सौन्दर्य की सृष्टि करने के प्रति कवि-जन मन्दादर हो गये। जिस वस्तु-सौन्दर्य से आदिकवि वाल्मीकि, प्रवरसेन, गाथा-सप्तशती और कालिदास के काव्य भूषित हैं, जो वस्तु-सौन्दर्य उन काव्यों की संजीवनी है, उस वस्तु-सौन्दर्य का आस्वाद लेकर यह प्रतीत होता है कि इन काव्यों की रचना इस भारत-भूमि में हुई है। वह वस्तु-सौन्दर्य कवियों की काव्य-रचना से विरक्त होकर एक समय महान् रचनाकार बाणभट्ट के गद्य-साहित्य में विश्राम करता रहा, फिर उसने वहीं अन्तिम विश्राम-सा कर लिया। परवर्ती कवियों की रचनाओं में उसने पदार्पण नहीं किया।

दण्डी के अनन्तर भामह ने अलंकारों का जो निरूपण किया उस निरूपण में भाव-सृष्टि करनेवाले अलंकारों के प्रति ही भामह का व्यामोह है। काव्य-रचना में वस्तुसौन्दर्य के प्रति उनकी दृष्टि कितने हलके चमत्कार से प्रेरित है, यह तो उनकी स्वभावोक्ति-विषयक आलोचना से पता चलता है। स्वभावोक्ति को उन्होंने मन्द-आदर के साथ अलंकार स्वीकार किया है—कुछ लोग स्वभावोक्ति अलंकार है, यह कहते हैं किसी वस्तु का उसी अवस्था में वर्णन करना स्वभाव या स्वभावोक्ति अलंकार है। जैसे—शोर मचाता हुआ, दूसरों को बुलाता हुआ, गोलाकार दौड़ाता हुआ और रोता हुआ बालक खेत में चरती हुई गाय को डण्डे से हाँक रहा है।[1]

---

१. काव्यालंकार (भामह) २।९३-९४
स्वाभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थात्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥
आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन्मण्डलै रुदन्।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः॥

भामह ने प्रायः उन अलंकारों का ही निरूपण किया था, जिनका निरूपण दण्डी ने किया था। दण्डी के कुछ निरूपित अलंकारों का भामह ने खण्डन भी किया है। दोनों आचार्यों का जो अन्तर है, वह उनके उदाहरणों में स्पष्ट होता है, दण्डी की जैसी दृष्टि अलंकारों को उद्भावना में वस्तु-सौन्दर्य के प्रति है, उस वस्तु-सौन्दर्य की कल्पना भामह नहीं करते, वे काव्य-रचना और काव्यशास्त्र को अन्य शास्त्रों के समकक्ष तात्त्विक-चिन्तन का विषय बनाना चाहते हैं। भामह की यह भावना विकसित होती रही, जो उनके उत्तरवर्ती आलंकारिकों में भाव-मूलक या केवल उक्ति-परक अलंकारों की उद्भावना का कारण बनी है। भामह काव्य-रचना में वस्तु-सौन्दर्य की कल्पना से दूर तात्त्विक चिन्तन में डूबे हुए आचार्य हैं, यह उनके उपमा-विषयक इस निरूपण से पता चलता है—

सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते॥

अखण्डमण्डलः क्वेन्दुः क्व कान्ताननमद्युति।
यत्किञ्चित्कान्तिसामान्याच्छशिनैवोपमीयते॥

(काव्यालङ्कार २।४३-४४)

अर्थात् भाव का सभी से समग्र सादृश्य सम्भव नहीं है, यथासम्भव समानता की उपपत्ति कवि जन उपमा में करते हैं देखिए, कहाँ तो अपने सम्पूर्ण बिम्ब से युक्त चन्द्रमा, और कहाँ चमक से हीन कान्ता का मुख, किन्तु किञ्चित् कान्ति की समानता से कान्ता-मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है। अपने इस कथन में भामह ने काव्य-रचना में उस पक्ष की उपेक्षा कर दी है जो पक्ष सौन्दर्य-सृष्टि का है। वे समझते हैं कि उपमा का अर्थ दो वस्तुओं के स्वरूप की समानता है। इसी-लिए उन्होंने उपमा के लक्षण में गुणलेश से होनेवाली समानता को उपमा कहा है। दण्डी का लक्षण इससे भिन्न है। उन्होंने कहा है कि जहाँ पर किञ्चिद् उत्पन्न हुआ सादृश्य प्रतीत होता है वह उपमा है। दण्डी ने इसे स्पष्ट नहीं कहा है कि यह सादृश्य दो समान सौन्दर्यों से उत्पन्न हो जाता है, पर 'यत्रोदभूतं प्रतीयते' की मूल-दृष्टि और वास्तविक अर्थ यही है।

अलंकारों की उद्भावना सर्वप्रथम वैदर्भ कवियों एवं आचार्यों ने की है। जो समग्र रूप से दण्डी के काव्यादर्श में हमारे सामने आती है। वैदर्भ से अलंकारों की यह कल्पना गौड कवियों में और वहाँ से पाञ्चाल होते हुए कश्मीर पहुँची। इसका पता इस बात से चलता है कि स्वयं भामह ने काव्यालंकार में इन अलंकारों

को चार वर्गों में बाँट कर निरूपित किया है। इस वर्ग-विभाजन में वे यह भी कहते हैं कि कुछ विद्वानों ने इन अलंकारों को भी कहा है, और तेईस (२३) अलंकारों का वर्ग उन्होंने अलग ही रखा है। भामह के इस ऐतिहासिक क्रम की पुष्टि उद्भट के 'काव्यालंकारसार-संग्रह' से भी होती है। उद्भट ने अलंकारों को ६ वर्गों में बाँट कर निरूपित किया है। हर एक वर्ग में अलंकारों की गणना के साथ उन्होंने इस प्रकार के वाक्य उद्धृत किए हैं—

इत्येत एवालकाराः वाचां कैश्चिदुदाहृताः, इत्यलंकारान् परे विदुः, अपरे त्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ, अलंकारान्परे विदुः, जगदुरलंकारान् परे गिराम्, इत्यलंकारान्परे विदुः।

उद्भट का यह सारा क्रम भामह के अनुसार ही है। उद्भट के पहले, दूसरे, तीसरे वर्ग के अलंकार भामह के काव्यालंकार के द्वितीय परिच्छेद में निरूपित हुए हैं। शेष तीन वर्गों के अलंकार वे हैं जिनको भामह ने काव्यालंकार के तृतीय परिच्छेद में निरूपित किया। यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि वैदर्भ काव्यशास्त्रीय परम्परा से कवि-गोष्ठियों में इन अलंकार-उद्भावनाओं का आगमन क्रमशः होता रहा। कश्मीरी आचार्यों की दो विशेषताएं हैं जो उनके काव्यशास्त्रीय चिंतन में सर्वत्र लक्षित होती हैं। एक तो वे काव्य-रचना में भाव को बहुत अधिक प्रधानता देते हैं, भाव किसी भी प्रकार का हो। दूसरी विशेषता है तत्त्व-चिंतन के प्रति गहरा अभिनिवेश। जहाँ तत्त्व-चिन्तन का अधिक उदय हुआ वहाँ वस्तु तिरोहित हो जायगी और काव्य-रचना में यदि वस्तु का आधार न रहा तो वह गन्धर्व-नगर की सृष्टि होगी। कवि के काव्य से जो संजीवनी लोक को प्राप्त होती है वह नहीं मिल सकेगी। वस्तु-दर्शन या वस्तु-सौन्दर्य कवि की प्रतिभा की कसौटी है।[1] सभी कवि वस्तु को काव्य-रचना में ललित ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकते और भावों की उड़ान तो वे भी भर लेते हैं जिन्हें कभी-कभी कवि-सभाओं में बैठने का अवसर मिलता है। यह कहा जाता है कि भरत के रस-सूत्र की व्याख्या कश्मीरी आचार्यों ने की है पर वास्तविकता यह नहीं है। वास्तविकता कुछ और है। भरत का रस-सूत्र और अभिनय में होनेवाले रस का व्याख्यान जो भरत ने नाट्य-शास्त्र में किया है, अभिनवगुप्त की व्याख्या उससे बहुत साम्य नहीं रखती। यह हम पीछे के लेख में दिखा चुके हैं। काश्मीरकों का भाव और रस भरत से मेल नहीं खाता और न ही उसका मेल आदिकवि वाल्मीकि की रचनाओं से है। यह इतिहास की खोज

---

१. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।—अभिनवगुप्तपाद

का विषय है कि कश्मीरी आचार्यों ने जिस भाव, रस पर बड़ा जोर दिया और ध्वनि-शास्त्र का उन्मीलन किया, उन्हें यह परम्परा कहाँ से प्राप्त हुई। हो सकता है, इस चिंतन परम्परा के लिए वे प्राचीन पारसीक देश के साहित्य के ऋणी हों। जो भी हो, वैदर्भ कवियों की अलंकार-उद्भावना, सौन्दर्य सृष्टि का जो सौरभ बिखेरती थी, जब वह परम्परा कश्मीर पहुँची तब वह वस्तु-सौन्दर्य जड़ीभूत हो गया और भाव के सौन्दर्य ने काव्य-रचना से हटकर काव्य की व्याख्या में अपना स्थान ग्रहण किया। आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त काव्य की व्याख्या का ही साहित्य-सिद्धान्त है कवि की काव्य-रचना से उसका सम्बन्ध कम है। अलंकारों के व्याख्यान में भाव के बढ़ते हुए प्रभाव ने अलंकारों की ऐसी-ऐसी कल्पनाएं, उद्भावनाएँ करायी हैं जिनमें वस्तु-सौन्दर्य तो है ही नहीं, भाव-सौन्दर्य भी नहीं है, केवल उक्ति का चमत्कार मात्र है। इसके प्रमाण के लिए हमें आचार्य रुय्यक का 'अलंकार सर्वस्व' देखना चाहिए। रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' में निरूपित अलंकार हमारे इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं, जैसे—विशेष, व्याघात, अनुमान, पर्याय, अर्थापत्ति, विकल्प, विषम, अधिक। विकल्प अलंकार का लक्षण है जहाँ तुल्य बल का विरोध हो, उदाहरण है सिर झुकाओ या धनुष, आज्ञाएँ कान के पास ले जाओ या धनुष की डोरियाँ।[१] विशेष का लक्षण है—जहाँ पर आधेय एक होकर भी अनेक-गोचर हो। उदाहरण है—वे कवि लोग क्यों न वन्दनीय हों जिनके स्वर्ग-लोक चले जाने पर भी उनकी अनेक गुणों से युक्त वाणी कल्प तक सज्जनों को आनन्दित करती हैं।[२] विकल्प और विशेष अलंकार के इन उदाहरणों में उक्ति का एक साधारण चमत्कार है। किसी सौन्दर्य की सृष्टि या अभिव्यक्ति यहाँ नहीं हो रही है। ऐसे अलंकारों की कल्पना से काव्य-रचना में अलंकार की मान्यताओं का गौरव घटने लगा। सच बात तो यह है कि भाव की उक्तियाँ जो वास्तव में सौन्दर्य का विधान करती थीं उनकी गणना ध्वनि के प्रभेदों में कर ली गयी और जो केवल उक्तियाँ मात्र थीं वे अलंकारों में निरूपित हुईं। एक तरह से

---

१. अलंकार-सर्वस्व
उदा०—'नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा, कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा।'

२. अलंकार-सर्वस्व
अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः।
उदाहरण—दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः।।

ध्वनि-सिद्धान्त अलंकार-विशेष हो गया और 'अलंकारसर्वस्व' के निरूपित अलंकार अलंकार मात्र रह गये। 'अलंकार-सर्वस्व', 'चन्द्रालोक' अथवा 'कुवलयानन्द' में अलंकारों का जैसा निरूपण हुआ उससे अलंकार-विवेचन की छवि बिगड़ गयी। इनमें ऐसे-ऐसे अलंकारों का व्याख्यान किया गया जो सामान्य उक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वैदर्भ काव्य-परम्परा और काव्य-चिंतन के द्वारा वस्तु-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की जो उद्भावना काव्य-रचना के क्षेत्र में की गयी, यह वही उद्भावना है जिस उद्भावना के धरातल पर कालिदास और बाणभट्ट की कृतियों की रचना हुई है और इन कवियों की कृतियाँ जैसा कि सर्वविदित है, सौन्दर्य का अथाह सागर अपने शब्दों में उद्वेलित कर रही हैं, यह सब कुछ अलंकार का सौन्दर्य था।

ध्वनि-सिद्धान्त में ध्वनि के जिन प्रभेदों को आनन्दवर्धन ने निरूपित किया है और उनका निरूपण करते हुए अर्थ की अभिव्यक्तियों की व्याख्या करते हैं तब ध्वनि द्वारा एक अर्थ नहीं, अनेक अर्थों की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। ऐसे प्रायः सभी स्थलों पर अलंकार का सौन्दर्य विद्यमान है। ध्वनि की महिमा उस अलंकार-सौन्दर्य के द्वारा ही प्रतिष्ठित हो रही है।

यह बात सत्य है कि जहाँ वस्तु-सौन्दर्य है वहाँ भाव-सौन्दर्य अवश्य होगा। क्योंकि मन के भाव (क्रिया) का वस्तु से सम्पृक्त होना अत्यन्त स्वाभाविक है और जहाँ ऐसा संयोग घटित होता है काव्य-रचना को सहज भूमि वहीं प्रतिष्ठित होती है। किन्तु कहीं-कहीं भाव की उक्तियाँ भाव के आधार पर सर्जित होती हैं, ऐसे स्थल उक्ति मात्र में ही पर्यवसित हो जाते हैं, चाहे वे ध्वनि-लक्षण से सम्पन्न हो चाहे वे कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को उद्भावित कर रहे हों। अतः काव्य-रचना में वस्तु-सौन्दर्य ही उसे जोवन प्रदान करता है। अधिकांश में वस्तु-सौन्दर्य ही अलंकार का पक्ष है। इस वस्तु-सौन्दर्य को उद्भावित करनेवाला अलंकार स्वाभावोक्ति या स्वभावाख्यान है। यह स्वभावोक्ति जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य इन चार वर्गों में बट कर अनेक प्रकारों में विभाजित हैं और किसी समय काव्य-रचना में इसका साम्राज्य था, यह उल्लेख आचार्य दण्डी करते हैं।[1] लेकिन जब विदग्ध गोष्ठियों में उक्तियों की नोक-झोंक के प्रति अधिक आकर्षण बढ़ गया तब काव्य-रचना के क्षेत्र में स्वभावोक्ति की उपेक्षा हो गयी। यह बात अवश्य है कि आचार्य कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त में स्वभावोक्ति को सहज वस्तु-

---

१. काव्यादर्श २।१३

वक्रता के रूप में निरूपित किया और इस रूप में काव्य-रचना के संसार में उसके उस साम्राज्य की प्रतिष्ठा की जिसका उल्लेख दण्डी ने काव्यादर्श में किया था। कुन्तक की सहज वस्तु-वक्रता असामान्य है। ध्वनि-सिद्धान्त के समस्त वस्तु-व्यंग्य, रस, भाव आदि इस सहज वस्तु-वक्रता में आ जाते हैं।

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार के उस वस्तु-सौन्दर्य को जिसको औदीच्य कश्मीरी आचार्यों ने भाव के अभिनिवेश में कभी महत्त्व नहीं दिया और अपने अलंकार-निरूपण में उसकी उपेक्षा किये रहे, ध्वनि-सिद्धान्त और वक्रोक्ति-सिद्धान्त में अलंकार का वही वस्तु-सौन्दर्य दूसरे रूप और नाम में आकर प्रतिष्ठित हो गया। अपनी बात को आगे हम विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करना चाहेंगे।

आनन्दवर्धन ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का यह उदाहरण दिया है—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव।

छन्द का अर्थ है कि अपने स्निग्ध और श्यामल कान्ति से आकाश का लेपन करनेवाले, बक पंक्तियों से सम्पृक्त बादल खूब उमड़े हैं, उनकी वर्षा की नन्हीं बूदों को लेकर ठण्डी हवा जितना चाहे बहती रहे, बादलों के मित्र मयूर अपनी आनन्दभरी केका से जितना चाहे वन को भर दें। मैं कठोर हृदय राम हूँ सब कुछ सह लेता हूँ, कोई चिन्ता नहीं किन्तु इस वर्षा काल में वैदेही की क्या दशा होगी, हाय देवि ! धैर्य धारण करो।

इस छन्द में ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार राम शब्द अर्थान्तर में परिणत होकर दृढ़ता और कठोरता के परिणाम-स्वरूप राज्य-निर्वासन आदि असंख्येय अर्थों का व्यञ्जक बन रहा है।[1]

यहाँ पर राम शब्द अर्थ-उद्भावना को जिन परिस्थितियों में अर्थान्तर में संक्रमित होकर अनेक व्यंग्य अर्थों का बोध करा रहा है उन परिस्थितियों का आधार छन्द की प्रथम दो पंक्तियाँ हैं और वे दोनों पंक्तियाँ स्वभावोक्ति अलंकार के

---

१. ध्वन्यालोक २।१
इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यंग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्।
लोचन—व्यंङ्ग्यधर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम्।

रूप में वस्तु-सौन्दर्य की सृष्टि कर रही हैं, वह वस्तु-सौन्दर्य ही राम को अर्थान्तर-संक्रमित अनेक अर्थों में प्रस्तुत कर रहा है। यद्यपि इस वाक्य में 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' यह पद ही मुख्य विधेय है लेकिन पहले की दो पंक्तियों के वस्तु-सौन्दर्य के विना इस विधेय पक्ष में कोई प्राण नहीं आ सकता। अथवा यों कहा जाय कि दो पंक्तियों का वस्तु-सौन्दर्य काव्य-सृष्टि का प्राण है और विधेय पक्ष उसका स्फुरण मात्र है।

एक तरह से इस छन्द में 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' की अभिव्यक्ति बहुत उच्च भावना से प्रेरित नहीं है और न इससे पुराण-प्रसिद्ध राम के चरित्र को कोई गौरव मिलता है, यह तो सांसारिक भावनाओं से प्रेरित सामान्य पुरुष की नाटकीय उक्ति है। राम के सामने लंका में वन्दिनी सीता के उद्धार की गहन चिन्ता है और विना रावण को विजय किए इस उद्धार की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी परिस्थिति में वर्षा-काल में उमड़ते मेघों को देखकर पराक्रमी युद्धवीर राम वैदेही के वियोग में पीड़ित होकर वैदेही के वियोग को सहन करने की क्षमता को ही अपनी कठोरता की चरम सीमा मान लें—किसी प्रकार भी समीचीन उक्ति नहीं कही जा सकती।

इस छन्द को कुन्तक ने भी अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में उद्धत किया है और उसने छन्द के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में अभिव्यक्त काव्य-सौन्दर्य को विश्लेषित किया है। पूर्वार्द्ध के वस्तु-सौन्दर्य से भी कुन्तक की दृष्टि भलीभाँति अभिरञ्जित होती है, यह विशेष बात है। यहीं पर आचार्य कुन्तक आनन्दवर्धन से अधिक समर्थ काव्य-तत्त्व-वेत्ता हैं। कुन्तक ने पूर्वार्द्ध के वस्तु-सौन्दर्य को उपचार वक्रता में निरूपित किया है।[१] उन्होंने लिखा है कि इस छन्द में 'लिप्त' और 'स्निग्ध' ये दोनों पद जिस प्रकार अमूर्त वस्तुओं में अपनी क्रियाकारिता के लिए उपनिबद्ध हुए हैं यह उपचार वक्रता है और उसके द्वारा क्रमशः अपूर्व सघन श्यामलता और अपूर्व स्निग्धता का बोध हो रहा है। कुन्तक ने यह भी लिखा है कि इस उपचार वक्रता के द्वारा रूपक आदि अलंकार और अधिक सरसता प्राप्त कर लेते हैं।[२] इससे स्पष्ट है कि अलंकारों का वस्तु-सौन्दर्य ही प्रकारान्तर से कुन्तक की इस वक्रता का विषय है।

---

१. वक्रोक्ति-जीवित २।११

२. वक्रोक्ति-जीवित २।१४

यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते॥

कुन्तक ने उत्तरार्द्ध में रूढ़िवैचित्र्यवक्रता की व्याख्या की है। उसमें 'राम' शब्द द्वारा असाधारण क्रूरता का बोध हो रहा है जो राम शब्द के साधारण अर्थ से बिल्कुल भिन्न है। चौथी पंक्ति में वैदेही के बाद आया हुआ 'तु' अव्यय वर्षा काल में वैदेही की सहज सुकुमारता-सुलभ कातरता का बोध करा रहा है। किन्तु इन दोनों रूढिवक्रताओं की उद्भव-भूमि पूर्वार्द्ध की उपचार-वक्रता है।

आनन्दवर्धन ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि में आदिकवि वाल्मीकि का यह छन्द उद्धृत किया है—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृत—मण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

यहाँ पर 'अन्ध' शब्द अपने मूल अर्थ को अत्यन्त तिरस्कृत कर पदार्थों के स्फुटीकरण की अक्षमता का बोध करा रहा है। जो वस्तुतः अन्धता नहीं है, दृष्टि रहने पर भी अक्षमता को स्थिति है। लेकिन इस छन्द का सारा सौन्दर्य क्या इस अन्ध शब्द के अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि में है। वह तो पूर्वार्द्ध के वस्तु-सौन्दर्य में है, जिसमें कहा गया है कि चन्द्रमा जिसका सौभाग्य अब सूर्य में संक्रान्त हो गया है, जाड़े की रात्रियों में तुषार से ढका हुआ ऐसे ही प्रकाशहीन रहता है जैसे निःश्वास से अन्धा हुआ दर्पण। पूर्वार्द्ध का स्फुट अर्थ यह हुआ कि जाड़े की ऋतु में लोग सूर्य की धूप का ऐसे ही सेवन करते हैं जैसे (वसन्त और ग्रीष्म में) चन्द्रमा की चाँदनी का सेवन करते थे। चन्द्रमा के प्रति लोगों का वह आदर अब सूर्य के प्रति संक्रान्त हो गया है। छन्द का यह वस्तु-सौन्दर्य इस छन्द की सारी प्राणवत्ता है।

काव्य-रचना में वस्तु या भाव के सौन्दर्य की सृष्टि प्रायः वर्णनाय प्रस्तुत और उससे ही सम्बद्ध अप्रस्तुत आदि के विविध संयोगों एवं प्रस्तुतीकरणों पर निर्भर होती है। अलंकार-शास्त्रियों ने इस संयोग और प्रस्तुतीकरण को अपनी दृष्टि से देखा है, आनन्दवर्धन ने अपनी दृष्टि से। जो कुछ आनन्दवर्धन ने निरूपित किया है वह सब अलंकार-शास्त्र से अछूता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अलंकार-सिद्धान्त में कवियों के द्वारा सृष्ट ऐसे सौन्दर्य का लेखा-जोखा एक निश्चित सरणि में किया गया है। आनन्दवर्धन ने उसे सिद्धान्तों से दूर ध्वनि का असीमित क्षेत्र मान लिया है। बाद में भी आनन्दवर्धन के अनुयायियों ने ध्वनि के क्षेत्र की असीमितता का विस्तार करने में गौरव का अनुभव किया। उन्होंने यह कहा कि यह काव्य का व्यंग्य अर्थ (ध्वनि अर्थ) वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभा-विशिष्ट सहृदयों को

वाच्य अर्थ से भिन्न रूप में भासित होता है।[१] इसकी कोई सीमा और नियम नहीं है। इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार के अर्थ का बोध होता है, ऐसी अपेक्षा ध्वनि-सिद्धान्त में नहीं है। यह अनपेक्षा ही ध्वनि-सिद्धान्त का भूषण है।[२]

यही नहीं पद, वाक्य, उपसर्ग, निपात तक से व्यंग्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।[२] आचार्य कुन्तक भी वक्रता की स्थिति पद, वाक्य, प्रबन्ध में तो मानते हैं, उपसर्ग, निपात आदि में भी मानते हैं। ध्वनि-सिद्धान्त और वक्रोक्ति-सिद्धान्त में उक्त प्रकार के विविध विवेचन से अर्थबोध और शब्द-प्रयोग के अनेक रमणीय पक्ष उद्घाटित हुए हैं और इनसे संस्कृत साहित्य-शास्त्र समृद्ध हुआ है। इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है, किन्तु काव्य-रचना की प्राणवत्ता वस्तु एवं भाव के सौन्दर्य में है जिसका विधान अलंकार-सिद्धान्त करता है। इस सिद्धात का मूलाधार है प्रस्तुत-अप्रस्तुत की विविध उपस्थिति। अगर ललित एवं प्राणवान् प्रस्तुत एवम् अप्रस्तुत अर्थ बोध की सामग्री कवि की प्रतिभा में नहीं है तो ध्वनि और वक्रोक्ति के सिद्धान्त काव्य रचना की सृष्टि में कौन सी नवीनता उत्पन्न कर सकेंगे।

पीछे प्रस्ताव, देश, काल, वक्ता और बोधव्य आदि से व्यंग्य अर्थ की अभिव्यक्ति के अनेक पक्ष स्वीकार किए गये हैं। वह अलंकार-सिद्धान्त में अप्रस्तुत-प्रशंसा और अतिशयोक्ति का विषय रहा है जिसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत के प्रस्तुतीकरण के अनेक पक्ष स्वीकार किए गये हैं यह संयोग ही था कि अप्रस्तुत-प्रशंसा और अतिशयोक्ति का विस्तार उतना नहीं हुआ जितना उपमा, रूपक का किया गया। वक्रोक्ति और ध्वनि——दोनों सिद्धान्तों में अप्रस्तुतप्रशंसा कई रूपों में लक्षित होती है तथा अपने अभिनव और अपूर्व अर्थ को व्यक्त करने के लिए श्लेष अलंकार की अनिवार्यता आनन्दवर्धन और कुन्तक दोनों को इष्ट है। यह बात उस स्थिति में है जबकि उनके सिद्धान्त में पद, वाक्य के अतिरिक्त उपसर्ग, निपात तक अपूर्व अर्थ का बोध करा देते हैं। श्लेष की यह अनिवार्य

---

१. काव्यप्रकाश ३:२१-२२

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः ॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

२. काव्य-प्रकाश ५

एवं विवादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम्।

स्थिति काव्य-रचना में अलंकार-सिद्धान्त की सर्वोत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण है।

यदि कवि के पास प्रस्तुत या अप्रस्तुत अर्थ की प्राणवान् सामग्री नहीं है तो ध्वनि सिद्धान्त उस काव्य-रचना में कोई अपूर्वता नहीं ला सकता। इसका उदाहरण यह है—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

मम्मट ने काव्य-प्रकाश में इस छन्द को उत्तम काव्य (ध्वनि) के रूप में उद्धृत किया है। किन्तु ध्वनि-काव्य की जो विशेषता आनन्दवर्धन और उनके अनुवर्ती आचार्य बखान करते हैं कि ध्वनि-काव्य असंख्येय प्रतीयमान अर्थों की परम्परा खड़ी कर देता है, वह इस छन्द में कहाँ है? छन्द का अर्थ है नायिका ने अपनी दूती को नायक के पास बुलाने के लिए भेजा, वह स्वयं नायक से रमण, करके लौटी और यहाँ नायिका से कहा कि 'मैं बावली में नहाने चली गयी थी।' नायिका स्नान और रमण दोनों अर्थों को अपने व्यंग्यगर्भित वाक्य से प्रकाशित करती हुई नायक और दूती दोनों की भर्त्सना कर रही है—दूती! तुम्हारे स्तन-तट का सम्पूर्ण चन्दन छूट गया है, अधर की लालिमा भी धुल गई है, आँखों की कोर का अञ्जन छूट गया है, तुम्हारा शरीर रोमाञ्चित है, हे झूठ बोलनेवाली! अपनी सखी की पीड़ा को न जाननेवाली तू यहाँ से बावली नहाने गयी थी, निश्चित रूप से उस अधम नायक के समीप नहीं गयी थी। इस अर्थ-बोध में केवल एक ही प्रतीयमानता विद्यमान है कि दूती ने जो छल नायिका के साथ किया और बावली में नहाने का जो बहाना बनाया, उसे नायिका ने जान लिया। नायिका को इस गूढ़ अर्थ को इतने कौशल से कहना चाहिए था कि दूती को उसको समझने में समय लगता कि मेरे झूठ को नायिका ने जान लिया है। पर नायिका के वाक्य में 'मिथ्यावादिनि' और 'अधम' पद दूती के झूठ का प्रत्यक्ष प्रकाशन कर रहे हैं। यहाँ पर ध्वनि-काव्य की वह उत्तमता कहाँ है जो केवल सहृदयजन-संवेद्य ही है। स्नान और रमण दोनों क्रियाओं में शरीर की एक समान स्थिति का स्वरूप-दर्शन वहाँ कुछ चमत्कार-जनक हो सकता था जहाँ प्रशंसा के अर्थ में प्रयुक्त होता और जहाँ पर झूठ बोलना है और फिर इसकी निन्दा होनी है, ऐसे चोरी के अर्थ में दोनों अर्थों को एक ही वाक्य से प्रकाशित करने के लिए

ध्वनि-प्रयोग की शालीनता सहृदय को चमत्कृत नहीं करती। छन्द में अर्थ वहीं पर विराम ले रहा है जहाँ दूती के झूठबोलने का भेद खुल गया और यह भेद इतना गूढ़ नहीं है जिसके लिए कवि-कौशल की अपेक्षा हो, नहाने और रमण करने में शरीर की अवस्था का जो भेद है, उसे नायिका निश्चित रूप से जानती है क्योंकि वह तुरन्त ही भेद खोल देती है पर दूती इस भेद को नहीं जानती यह कैसे कहा जाय ? क्योंकि वह स्वयं में नायिका से भी चतुर है तभी तो उसने जाकर नायक से रमण कर लिया पर इसका रचयिता कवि इस भेद को अभेद समझता है और हमारी समझ में उसकी हृदय-संवेद्यता दूती और नायिका से हीन कोटि में है, जो ऐसे सन्दर्भ को काव्य का विषय बनाता है तथा आचार्य मम्मट की संवेद्यता को क्या कहा जाय जो इस मुक्तक को उत्तम काव्य की कोटि में प्रतिष्ठित करते हैं।

आश्चर्य यह है कि आचार्य मम्मट ने इस छन्द के पूर्व एक ऐसे मुक्तक को उद्धृत किया है जो अपने काव्य सौन्दर्य की उत्तमता से प्रत्येक सहृदय को लुब्ध करता है पर मम्मट की दृष्टि से वह अकाव्य-रचना से बचा हुआ केवल काव्य है, शार्ङ्गधर पद्धति में उद्धृत शिलाभट्टारिका का वह मुक्तक यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

इस छन्द में नायिका जो अपने स्वाधीन पति के साथ सुखपूर्वक है, अपनी सखी से उन दिनों की याद कर रही है जब नर्मदा नदी के तट पर वेतस् के कुञ्ज में उन दोनों का प्रेम-व्यापार चल रहा था। वह कहती है—देखो, जिसने मेरे कौमार्य का हरण किया मेरे पास मेरा वही प्रेमी वर विद्यमान है, आज भी चैत्र की वही रात्रियाँ हैं जब हमारा आपस में मिलन हुआ करता था। फूले कदम्ब से टकराकर आनेवाला उद्दीपक पवन जिसमें मालती का सौरभ मिला रहता था, आज भी मन्द-मन्द प्रवाहित है और मैं भी वही हूँ तो भी नर्मदा-तट के वेतसी वृक्ष के नीचे प्रेम-व्यापार की लीलाओं के (उन-उन रमणीय) प्रसंगों में चित्त उत्कण्ठित हो रहा है। 'चेतः समुत्कण्ठते' -पद चैत्र के रमणीय सुर-भित वासन्तिक वातावरण और नर्मदा के मनोहर तट-कुञ्ज के संयोग से अतीत में घटित अनेक प्रेम-व्यापार, विलास, भाव, आनन्द में व्यतीत की गयी रात्रियाँ, चाँदनी से धवलित पर्वत-नदियों आदि की स्मृति और प्रतीति करा रहा है जो

प्रेम के स्वतन्त्र संसार में उपभुक्त किए गये हैं और आज दाम्पत्य के बंधन में पड़ी यह नायिका प्रेम की उस स्वतन्त्रता और विविध आनन्द की स्मृतियों में अपने को खो रही है। काव्य का पाठक भी जो नर्मदा-तट की चैत्र की सुहावनी रात्रियों से परिचित है इस मुक्तक को पढ़कर इसके अर्थ में डूब ही जाता है, क्योंकि यहाँ वस्तु-सौन्दर्य की छटा-भाव की अनेक निर्झरणियों को अपने-आप प्रवाहित कर रही है। स्पष्ट है कि 'निःशेषच्युतचन्दनम्' से 'यः कौमारहरः' यह मुक्तक कहीं अधिक उच्च कोटि का काव्य है।

वस्तु-सौन्दर्य के सहज पक्ष की जहाँ उपेक्षा होती है वहाँ काव्य-रचना में ध्वनि का प्रयोग होने पर भी काव्य-अर्थ में तन्मयीभवन की स्थिति सहृदय पाठक को प्राप्त नहीं होती, जैसे—रूपकध्वनि का यह उदाहरण है—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मि-
न्स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः।
(ध्वन्यालोक २।२७)

मानवती नायिका के प्रति यह नायक की उक्ति है—हे चंचल बड़ी-बड़ी आँखोंवाली! लावण्य और कान्ति से दिशाओं को भर देनेवाले किंचिद् विहँसित तुम्हारे इस मुख के प्रकाश से जो थोड़ा भी क्षोभ समुद्र में नहीं हो रहा है, उससे मैं मानता हूँ, प्रकट है कि यह समुद्र जलराशि (जडराशि) है। अर्थात् यह चैतन्य-विहीन है।

छन्द का भाव है कि नायिका की मुख-कान्ति से समुद्र में जो उल्लास का क्षोभ नहीं हो रहा है वह इसलिए की समुद्र जड (जल) की राशि है, यह कहने से इस व्यंग्य की प्रतीति हुई कि मुख चन्द्रमा है। परन्तु कवि ने यहाँ प्रत्यक्ष प्रस्तुत सौन्दर्य की उपेक्षा कर दूर की उक्ति की है, जो नायक रमणी की मुख-कान्ति में डूबा वहाँ उसकी चाटुकारी कर रहा है, अनुराग में डूबे उसके चेतन-समुद्र की क्षोभ-क्रिया का क्या सौन्दर्य है, इस चित्रण में कवि ने एक पद की भी सृष्टि नहीं की। सच बात यह है कि नारी के मुखचन्द्र से समुद्र में क्षोभ की कल्पना करना सहज प्रवृत्ति और सहज धर्म की उपेक्षा कर काव्य-रचना को कृत्रिम बना देना है। और जहाँ सहज वस्तु-सौन्दर्य विद्यमान है वहाँ ही प्रतीयमान अर्थ की सघन स्निग्धता में काव्य-पाठक का हृदय स्वयं खो जाता है, जैसे—

गअणं च मत्तमेहं धारालुलि अज्जुणाइं अ वणाइं।
णिरहंकारमिअंका हरन्ति नीलाओ वि णिसाओ।
[गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशा॥]
(ध्वन्यालोक २।११)

आनन्दवर्धन ने इस छन्द को अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि के उदाहरण में लिया है। इसमें मत्त और निरहंकार शब्द अपने वाच्य अर्थ को तिरस्कृत कर सर्वथा नये अर्थ की प्रतीति कराते हैं। छन्द का अर्थ है—घटाटोप छाये बादलों से भरा आकाश, वर्षा के धारासम्पात में आन्दोलित होते अर्जुन के वन, चन्द्रमा का सौभाग्य (अहंकार) जिनसे दूर हो गया है वर्षा की वे काली रात्रियाँ भी, मन को हरती हैं।

वर्षाकाल की काली रात्रियों में मन की रागात्मकता किस प्रकार उद्बुद्ध होती है, और यह रागात्मकता वसन्तऋतु में नक्षत्र, सौरभ, चाँदनी से युक्त मह-महाती रात्रियों की अपेक्षा कम नहीं होती। कवि ने किस प्रकार वर्षाकाल की रात्रियों का सौन्दर्य उपस्थित कर अप्रस्तुतप्रशंसा की सरणि में वसन्त की रात्रियों की भावगर्भित अभिव्यक्ति कर दी है, काव्य का चमत्कार इन दोनों वस्तु-सौन्दर्यों में है, जो समानरूप से मन के राग का अधिष्ठान है, केवल मत्त एवं निरहंकार शब्दों की अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्यता में नहीं। ये शब्द वाच्यता का तिरस्कार कर जिस नये वाच्य की स्थापना करते हैं, काव्य की प्राणता उन दोनों वाच्यों के सौन्दर्य पर निर्भर है, यहाँ तिरस्कृत वाच्यध्वनि क्रिया मात्र है, इस क्रिया से वस्तु-सौन्दर्य की प्रस्तुति में एक चमत्कार उत्पन्न हुआ है, पर यह क्रिया स्वतः वस्तु-सौन्दर्य नहीं है।

इसी प्रकार ध्वन्यालोक में आये एक उदाहरण में शब्द शक्तिमूल ध्वनि और श्लेष का विवाद उपस्थित किया जाता है, उदाहरण यह है—

अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिका-धवलाट्टहासो महाकालः।

यहाँ पर महाकाल (ग्रीष्म) के अर्थ-बोध के अनन्तर महाकाल (रुद्र) का अर्थ चाहे शाब्दी व्यञ्जना से प्रकाशित हो रहा हो चाहे केवल श्लेष से, पर रचना का जो संजीवन पक्ष है वह यह है कि वसन्त ऋतु के बाद ग्रीष्म ऋतु में एक ओर तो रात्रि में मल्लिका की लताएँ धवल पुष्पों के अम्बार से भर जाती है और उनका सौरभ चारों ओर बिखरने लगता है और दूसरी ओर दिन में सूर्य का प्रचण्ड ताप

अपनी जलती हुई किरणों में जँभाई लेता है। ऐसा लगता है कि प्रातःकाल धवल मल्लिका के फूले वन ग्रीष्म (महाकाल) के अट्टहास हैं। सुरभित कोमल मल्लिका के धवल पुष्प महाकाल के अट्टहास के रूप में कवि को दृष्टिगत हो रहे हैं। उपमालंकार का यह वस्तु-सौन्दर्य ही इस रचना की सञ्जीवनी है। इस सौन्दर्य को अनुभूत करने के लिए हम तत्त्व-चिंतन के किस सोपान पर अवरूढ़ होते हैं वह हमारी प्रतिभा की लघुता और गुरुता का पक्ष है।

आचार्य कुन्तक ने उत्तर मेघ का एक प्रसिद्ध छन्द उद्धृत कर उसके पदों में स्पन्दित होनेवाली वक्रताओं की व्याख्या की है। पर उनकी ये वक्रताएँ उसी छन्द के उत्तरार्द्ध में वर्णित वस्तु-सौन्दर्य के आश्रित होकर ही जीवित हैं। कुन्तक ने दोनों पक्षों की व्याख्या की है उत्तरार्द्ध का वस्तु-सौन्दर्य स्वभावोक्ति अलंकार का है। छन्द पर कुन्तक की व्याख्या हमारे मन्तव्य को ही प्रकारान्तर से प्रमाणित करती है—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशाद्धृदयनिहितादागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणि — मोक्षोत्सुकानि।

इस छन्द को कुन्तक ने अपने इस सिद्धान्त के व्याख्यान में उद्धृत किया है कि काव्य-रचना में विवक्षित अर्थ का वाचक शब्द एक ही होता है, यद्यपि उस अर्थ के पर्याय शब्द अनेक हो सकते हैं, इसी प्रकार सहृदयों को आनन्द देनेवाला स्वभाव सुन्दर अर्थ भी (वही एक) होता है।[1] मेघदूत के उक्त छन्द में कालिदास ने जिन अर्थों की अभिव्यक्ति की है, उन अर्थों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द केवल वही हैं जिनको कालिदास ने प्रयुक्त किया है, दूसरे शब्द उन अर्थों के बोधक नहीं बन सकते। छन्द का अर्थ है—'हे अविधवे (सुहागिनी)! तुम मुझे अपने पति का प्रियमित्र (तुम्हारे लिए) उसके सन्देशों को हृदय में रखकर तुम्हारे समीप आया, अम्बुवाह (जल—जीवन ले आनेवाला मेघ) जानो। मैं वह मेघ हूँ, जो (इस वर्षाकाल में) मार्ग में विश्राम करते प्रवासी जनों को, अपनी गम्भीर-मधुर ध्वनियों से, प्रियतमाओं की विना श्रृंगार की गयी बँधी केशवेणी को खोलने तथा श्रृंगार

---

१. वक्रोक्ति-जीवित १।९
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि-स्वस्पन्द-सुन्दरः॥

करने हेतु उत्सुक कर घर पहुँचने के लिए जल्दी मचा देता हूँ। एक तरह से यह छन्द सन्देश-वाहक मेघ का परिचय है जो अलकापुरी पहुँचने पर सर्वप्रथम यक्ष-पत्नी से कहेगा। सम्बोधन में वह अविधवे का प्रयोग करता है, वह सौभाग्यवती का भी प्रयोग कर सकता था, पर सौभाग्यवती सम्बोधन से यक्षपत्नी को उत्सुकता तथा आनन्द न प्राप्त होते, क्योंकि 'सौभाग्यवती' कहनेवाले उसे सभी थे, व्यवहारिक रूप में वह सौभाग्यवती है ही, यदि शाप-वश इस आठ महीने की अवधि में विरह के असह्य ताप से उसके पति की मृत्यु न हो गयी हो, ऐसी स्थिति में जो पति का मित्र बन कर उसे अविधवे! सम्बोधन कर रहा है, वह पति के तात्कालिक समाचार से, उसके सकुशल जीवित रहने से परिचित है, अतः अविधवे! कहकर वह यक्ष-पत्नी के मन की इस कातरता (अधैर्य) को सद्यः दूर कर रहा है कि वियोग के असह्य ताप से उसके प्रिय की मृत्यु नहीं हुई है, जिससे उसका विधवा होना सम्भव था। इस प्रकार अविधवे! सम्बोधन से एक साथ पति के जीवित रहने का, पति से प्रत्यक्ष मिलकर शुभ समाचार ले आनेवाले मित्र का तथा यक्षपत्नी को आनन्दपूर्ण आश्वासन का अर्थबोध प्रकाशित हो रहा है। इसी प्रकार अन्य पद अम्बुवाह, हृदयनिहित, वृन्दानि, त्वरयति, वेणिमोक्षोत्सुकानि—पद भी अर्थ की गहन एवं मधुर उज्ज्वलता से ओतप्रोत हैं। छन्द का उत्तरार्ध स्वभावोक्ति अलंकार का वस्तु-सौन्दर्य है, मेघ अपना यथार्थ परिचय दे रहा है—आषाढ़ के महीने में प्रवासी-जन अपने घरों को लौटते हुए मार्ग में विश्राम करते रहते हैं, तब तक मैं आकाश में अपनी गम्भीर और मधुर ध्वनि करता हुआ छा जाता हूँ, नीचे विश्राम करते प्रवासी हैं, ऊपर मैं ध्वनि से आकाश-धरती को गुँजा रहा होता हूँ तब प्रवासियों को अपनी प्रियाओं के केश की वेणी स्मृति में उदित हो जाती है, जो शृंगार के लिए इनकी प्रतीक्षा करती होती है, वे यह याद कर शीघ्र ही घर पहुँचने के लिए उतावले हो जाते हैं। ऐसा मैं मेघ हूँ जो कामीजनों के समागम-सौख्य-सम्पादन की मधुर मैत्री निभाता हूँ। कालिदास के 'मेघदूत' काव्य का मेघदूतत्व यही है। आषाढ़ में मेघों का छा जाना, उनकी गम्भीर-मधुर ध्वनि, उसे सुनकर कामीजनों की परस्पर मिलने की उतावली—यह सब क्रमशः क्रिया-स्वभावोक्ति के वस्तुसौन्दर्य की काव्यसृष्टि है। पूर्वार्ध की दो पंक्तियों का चमत्कार उत्तरार्ध के इस स्वभावोक्ति-वस्तु-सौन्दर्य से प्रेरित एवं संजीवित है।

स्वभावोक्ति आदि अलंकृति है, कुछ कवि और गद्य कवि (जैसे बाणभट्ट) ऐसे ही हैं जिनकी काव्य-कृति में स्वभावोक्ति का ही साम्राज्य है। कुन्तक के समय में अलंकार की परिभाषा हेय अर्थ में ग्रहण हो चुकी थी। इसलिए वे काव्य

के जीवितभूत अलंकार को किसी न किसी वक्रता-भेद में ही उपस्थित कर शान्त होते हैं। स्वभावोक्ति की महिमा और काव्य-रचना में उसके सौन्दर्य के सौरभ से वे भलीभाँति परिचित थे, अतः उन्होंने उसे वाक्यवक्रता के सहज वस्तु-वक्रता प्रकार में रस भाव आदि के स्वरूप में निरूपित किया है। और इसके पहले ही प्रथम परिच्छेद में अपने मन्तव्य की पूर्व सूचना दे दी है—जो आलंकारिक स्वभावोक्ति को अलंकृति ही मानते हैं, वे बतायें, तब उनके लिए अलंकार्य (वर्णनीय वस्तु) के रूप में क्या शेष रहता है—

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥

(वक्रोक्तिजीवित १।११)

आनन्दवर्धन ने भी उपमा, दीपक, अतिशयोक्ति, श्लेष जैसे अलंकारों के उक्ति-विधान को ध्वनि का उत्कर्षाधायक कहा है। अस्तु, यह उनकी दृष्टि है। अलंकार का वस्तु-सौन्दर्य वर्णनीय भाव को उज्ज्वल बना देता है, भाव की स्थिति बिना वस्तु के हो नहीं सकती, किसे अलंकार कहा जाये, क्योंकि भाव तो स्वतन्त्र नहीं है। वस्तु से उत्पन्न हो रहा है, तो कौन किसका उत्कर्षाधायक है, इसकी सीमा-रेखा क्या होगी? आगे बाणभट्ट का एक गद्यखंड उद्धृत किया जा रहा है, जिसका वस्तु सौन्दर्य अपने-आप में चमत्कार-जीवित है, भाव इस चमत्कार के बीच में सुकुमार बूंद के समान खो गया है—

इत्येवंविधानि चान्यानि च वदन्तीनां तासामापीयमान इव लोचनपुटैः, आहूयमान इव भूषणरवैः, अनुगम्यमान इव हृदयैः, अनुबध्यमान इवाभरणरत्न-रश्मि-रज्जुभिः, उपह्रियमाण इव नवयौवनबलिभिः, शिथिलभुजलताविगलित-धवलवलयनिकरे पदे पदे विवाहानल इव कुसुममिश्रैर्लाजाञ्जलिभिरवकीर्य-माणश्चन्द्रापीडो राजकुलसमीपमाससाद। (कादम्बरी-पूर्वार्ध)

राजकुमार चन्द्रापीड विद्या प्राप्त कर गुरुकुल से राजभवन में लौट रहा है, राज-मार्ग पर दोनों ओर से अट्टालिकाओं में युवतियाँ उसके दर्शन के लिए खड़ी हैं, उसके रूप पर मुग्ध हो रही हैं और उस पर कुसुम तथा लाजा की वर्षा कर रही हैं, उसी वस्तु और भाव के सौन्दर्य को बाणभट्ट ने विस्तार से चित्रित किया है, इस प्रसंग का उपसंहार-वाक्य प्रस्तुत गद्य-खंड है—इस तरह (पूर्वोक्त) अनेक प्रकार के वाक्य वे परस्पर बोलती जा रही थीं, उस बोलने के बीच में ही उन युव-तियों के लोचन पुटों से (भरआँख) चन्द्रापीड जैसे पिया (पान किया) जा रहा

था, उनके आभूषणों की जो ध्वनि हो रही थी मानो वे ध्वनियाँ चन्द्रापीड को बुला रही थीं, युवतियों के हृदय मानो उसके पीछे चले जा रहे थे, उनके आभूषणों में जटित रत्नों की किरण-रूपी रस्सियाँ मानो उसको बाँध रही थीं (कि तुम जाओ नहीं), उनके द्वारा अपने नवयौवन की पूजा-भेंट चढ़ाकर मानो वह अर्चित किया जा रहा था, युवतियों की भुजारूपी लताएँ भाव में शिथिल थीं, उनके धवल कंकण कलाई से आगे लटककर अपनी किरणें नीचे तक बिखेर रहे थे, उन किरणों में, पद-पद पर जैसे विवाह के होमाग्नि में कुसुममिश्रित धान के लाजा को अंजलियों से अवकीर्यमाण होता चन्द्रापीड राजकुल के समीप पहुँचा।

उत्प्रेक्षा अलंकार से अनुरञ्जित इस पूरे वस्तु-सौन्दर्य में यह सुकुमार भाव बूँद की तरह खो गया है कि कुसुम-लाजा को वर्षा करती युवतियों के मन चन्द्रापीड को अर्पित हो चुके हैं। बाणभट्ट ने इस भाव के प्रबुद्ध तथा परिवर्तित होते स्तरों को बड़ी सूक्ष्मता से देखा है, पहले आभूषणों को ध्वनियाँ चन्द्रापीड को बुलाती हैं, फिर युवतियों का मन स्वतः उसके पीछे अनुगमन करता है, आभूषणों के रत्नों की किरण-रस्सियाँ उसे अनुराग के बन्धन में बाँधती है (जैसे विवाह के समय गाँठ जोड़ी जाती है)। पहले वे अपने नवयौवन को ही पूजा में उसे भेंट कर देती हैं, फिर वलय के धवल-किरण रूपी अग्नि में कुसुम-लाजा की आहुति देकर विवाह की विधि पूरी को जातो है। बाणभट्ट का यह सारा वर्णन केवल उत्प्रेक्षा-मात्र नहीं है, चन्द्रापीड चला जा रहा है, किन्तु उसके दर्शन में तल्लीन नगर की युवतियाँ के मन तन्द्रा, स्वप्न या अन्तर्जगत् में सचमुच इन सारे क्रियाकलापों को सम्पन्न कर रहे हैं। समस्त वर्णन स्वयंसमर्थ महद्वस्तु-सौन्दर्य का चित्र है, भाव तो यहाँ ऐसे ही आये हैं जैसे हरे-भरे पर्वत शृंग से बादल टकराना चाहता हो, और अपना जल पर्वत के प्रवाहित झरनों में मिला देना चाहता हो।

अलंकार के वस्तु-सौन्दर्य को काव्य-रचना-क्रिया में भाव-सौन्दर्य से पहले अवतरित करने की दृष्टि सहज कवि का स्वभाव है। यदि केवल भाव के लिए चेष्टा की गयी तो भाव कितना या किस रूप में आएगा, नहीं कहा जा सकता, वस्तु-सौन्दर्य की अवतारणा तब नहीं हो सकती। संस्कृत काव्य-रचना में बाणभट्ट के अनन्तर जो वस्तु-सौन्दर्य का दर्शन तिरोहित है उसके मूल में कवियों का भाव के प्रति अतिरेक या वस्तु की अपेक्षा भाव को प्राथमिकता देने का गहन आग्रह है।

इति शुभम्।

